दो शब्द

अब हमारा देश जनतंत्रात्मक व्यवस्था से परिपूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त चुका है। इस स्वातंत्र्य—प्राप्ति की परम प्रसन्नता के साथ साथ हमारे कन्धों पर एक बड़े उत्तर दायित्व का भी भार आ गया है। उस उत्तरदायित्व की शाश्वत पूर्ति का स्रोत हमारे विद्यालय हैं। आज का विद्यार्थी ही कल को राष्ट्र का कर्णधार बनेगा। यदि हमारे विद्यालयों से विद्यार्थी चरित्रवान् बनकर निकलते हैं तो भारत की सुख समृद्धि दिनानुदिन वृद्धिगत अवस्था को प्राप्त होती जायगी।

व्यष्टि से ही समष्टि बनती है। व्यक्ति-व्यक्ति के सम्मेलनसे ही समाज और राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्र के प्रत्येक मानव के जीवन को उन्नत एवं चरित्रवान् बनाने के लिए आदर्श विभूतियों के चरित्र विशेष उपयोगी होते हैं। उनको पढ़कर बालकों के हृदयों में समाज सेवा, त्याग, साहस और शौर्य की भावनाएँ अंकुरित होकर स्थायित्व ग्रहण करती हैं।

महात्मा टाल्सटाय ने एक स्थल पर लिखा—है कि "महापुरुषों के जीवन वृत्तों की अपेक्षा उनके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं को लेकर चलनेवाली कथाएँ ही मानव-जीवन को उन्नत बनाने में अधिक सहायक सिद्ध होती हैं।"

इसी कथन को लक्ष्य बनाकर मैंने इस छोटी-सी पुस्तक को लिखा है इसमें देशविदेश के उन नर-नारियों की कथाएँ हैं जिन्होंने अपने त्याग, साहस, सेवा और शौर्य से प्रत्येक मानव को कर्तव्य परायणता का पाठ पढ़ाया है पुस्तक में आदर्श नर-नारियों के ही कथात्मक चित्र हैं; इसलिए पुस्तक का नाम भी 'आदर्श विभूतियाँ' रखना उचित समझा गया।

पुस्तक में जिन आदर्श पुरुष और आदर्श नारियों की कहानियाँ लिखी गई हैं। वे सब ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति मैंने भी उनके कथामय चित्रों के चित्रण में कुछ कल्पना का आश्रय लिया है। इसी कारण कथानक में त्याग, साहस और शौर्य के परिपाक के लिए यत्र-तत्र परिवर्तन भी हो गया है। परन्तु इस परिवर्तन से चरित्र के चित्रण में कोई दोष नहीं आने पाया है और न किसी विभूति के जीवन का प्राण रूप आदर्श ही परिवर्तित हुआ है।

"आदर्श विभूतियाँ" किशोर विद्यार्थियों के जीवन में कर्तव्य परायणता, समाज सेवा, साहस, त्याग और शौर्य की भावना भरने के लिए लिखी गई है। यदि शिक्षा-संस्थाओं ने इसकी उपयोगिता को अनुपेक्षणीय समझ कर इसके प्रचार एवं प्रसार में थोड़ा बहुत भी सहयोग दिया तो लेखक अपने प्रयत्न को सफल समझेगा। यदि इस पुस्तक की विभूतियों के चरण चिह्नों पर एक पग भी हमारे विद्यार्थी चल पड़े तो लेखक को अपनी लेखनी की नोंक पर अतीव हर्ष और महान् गर्व होगा। तथास्तु!

लेखक।

विषय-सूची

गौतम बुद्ध

गौतम बुद्ध

रात्रि समाप्त हो चुकी थी। ऊषा ने अपनी पलकें खोल ली थीं। सूर्य भगवान् भी अपनी लाल पीली चादर को ओढ़कर पूर्व दिशा में छिपे हुए बैठे थे। वे उठकर आने ही वाले थे कि पक्षियों ने एक साथ उनके आगमन में स्वागत-गान गाने आरम्भ-कर दिये। उनके कलरव से हिमालय का आँगन एक दम गूँज उठा। कुछ ही क्षणों के उपरान्त अरुण देव की सुनहरी किरणों के प्रभाव से कपिलवस्तु के पास का वन-प्रदेश स्वर्ण की भाँति चमकने लगा।

उस सुन्दर वन-प्रदेश में झरने झर रहे थे। चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। पास में ही एक पर्वतीय सरिता का जल कल-कल निनाद करता हुआ बह रहा था। ग्रीष्म ऋतु थी; परन्तु वहाँ के पशु-पक्षियों के लिए पूर्ण आनन्द था। शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन बह रहा था और सबके मन में हर्ष और उल्लास की लहरें उत्पन्न कर रहा था। उसी वन में एक वृक्ष के नीचे गौतम बुद्ध की पर्णशाला बनी हुई थी। महात्मा बुद्ध पत्तों के आसन पर बैठे हुए थे और अपने शिष्यों को त्याग, साहस, आत्म-शुद्धि और अहिंसा का उपदेश कर रहे थे।

एक शिष्य ने विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया—"गुरुदेव! त्याग क्या है? और उसका क्या महत्त्व है?"

महात्मा बोले—"पुत्र! संसार की वस्तुओं को व्यक्तिगत सुख के लिए ही एकत्र करना और समाज के दूसरे प्राणियों का लेश-मात्र भी ध्यान न रखना, संचय कहलाता है। इस वस्तु-संचय की भावना को राग रहित होकर छोड़ देना ही त्याग है। त्याग से मनुष्य की आत्मा बलवती होती है और वह बलवती आत्मा अपना उत्थान करती हुई, विश्व का कल्याण करती है।"

महात्मा गौतम बुद्ध अपने शिष्यों को त्याग का महत्त्व समझा ही रहे थे कि एक व्यक्ति आश्रम की ओर आता हुआ दिखाई दिया। जब वह कुटिया के द्वार पर आ गया तो गौतम बुद्ध ने देख कर हर्षपूर्वक कहा——"आइए देवदत्त; विराजिए।" सब शिष्य एक साथ स्वागत के लिए खड़े हो गये और एक ने गुरुवर की आज्ञा से देवदत्त को आसन दिया। देवदत्त खिन्न मन से उस आसन पर बैठ गया। कारण यह था कि वह आसन एक साधारण व्यक्ति के लिए दिया जाता था। देवदत्त यह चाहता था कि गौतम बुद्ध मुझे ठीक अपने बराबर ही आसन पर बैठायें। परन्तु गौतम-बुद्ध को उसके दुराचरणों का पता लग गया था। इसलिए उसे उच्च आसन देना उनको उचित न जँचा। निदान एक साधारण-से स्थान पर ही देवदत्त को बैठाया गया।

देवदत्त को बैठे हुए दस-पाँच मिनट ही बीती होंगी कि वह एक दम खड़ा हो गया और क्रोध के मारे तमतमा उठा। उसने आसन पर खड़े होकर कहा——"दुष्ट, नीच, पाखंडी गौतम! तुझे अपने तपोबल और आत्म-ज्ञान का बड़ा घमंड हो गया है। अपने इस तिरस्कार का मजा तुझको यदि अच्छी तरह मैंने न चखाया तो मेरा नाम भी देवदत्त नहीं।" इस प्रकार के बहुत-से अप शब्द देवदत्त ने कहे परन्तु गौतम बुद्ध शान्तिपूर्वक सुनते रहे। अन्त में महात्मा बुद्ध ने प्रेमपूर्वक एक बार देवदत्त से फिर कहा — 'प्रिय देवदत्त! अपने आचरणों को सुधारो। राग-द्वेष को मन से बिलकुल हटा दो। मन-वचन-कर्म से अहिंसा और सत्य का पालन करो।"

इतना सुनकर भी देवदत्त गौतम बुद्ध को गालियाँ देता रहा। महात्मा बुद्ध उसकी गालियाँ सुनकर "शान्त! शान्त!!" ही कहते रहे। फिर क्रोध में बड़बड़ाता हुआ देवदत्त वहाँ से चला आया। कुटिया से बाहर आते हुए देवदत्त ने महात्म बुद्ध की ओर उँगली उठाकर कहा——"गौतम! अब मैं

तुझे ही अच्छी तरह देखूंगा। मेरे अपमान का परिणाम तेरी मृत्यु होगी।"

इस घटना से देवदत्त गौतम का प्रधान शत्रु बन गया था। परन्तु महात्मा गौतम की आत्मीयता देवदत्त के साथ कम न हुई थी। रिश्ते में देवदत्त गौतम बुद्ध का ममेरा भाई और साला लगता था। इन दो रिश्तों की बात इस प्रकार है :—

यह तो सर्वप्रसिद्ध बात है कि गौतम बुद्ध कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का विवाह कोलिराज सुप्रबुद्ध की कन्या "यशोधरा" के साथ में हुआ था। सुप्रबुद्ध सिद्धार्थ के मामा थे और उनके बड़े पुत्र का नाम देवदत्त था। 'यशोधरा' देवदत्त की बहिन थी जोकि गौतम बुद्ध की पत्नी और राहुल की माता कहलाई। इस तरह गौतम बुद्ध देवदत्त के ममेरे भाई भी थे और बहनोई भी। उस समय हमारे देश में मामा की लड़की के साथ विवाह हो जाता था। समाज में यह प्रथा बुरी नहीं मानी जाती थी।

सिद्धार्थ ने जब गृहस्थी त्याग कर अपनी तपस्या के बल से बुद्ध का पद प्राप्त किया और देश-भ्रमण करने लगे तो आनन्द, अनिरुद्ध आदि राजकुमारों के साथ देवदत्त ने उनकी शिष्यता स्वीकार की। अन्य शिष्य तो बुद्धजी की गुरुता को मानते हुए उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा-भाव रखते थे, परन्तु देवदत्त उनके प्रभाव को बढ़ता हुआ देखकर जला करता था। वह यह चाहता था कि लोग गौतम को छोड़कर मुझे मानें और उससे बढ़कर मेरा सम्मान करें। वह स्वभाव का क्रूर और ईर्ष्यालु था; इसलिए समाज में गौतम बुद्ध से बढ़कर सम्मानित न हो सका था।

जिस समय गौतम बुद्ध की आयु सत्तर वर्ष की थी, उस समय मगध में बिम्बसार राज करते थे। इसलिए राज्य का काम उनके पुत्र अजातशत्रु की देख-रेख में चल रहा था। देवदत्त ने अजात को अपने चंगुल में फाँस लिया था। अजात ने देवदत्त के कहने से

अपने पिता को वन्दीगृह में डाल कर भूखों मारने की व्यवस्था की थी ।

बिम्बसार बुढ़ापे के कारण दुर्बल तो थे ही । वे जेल के कष्टों को न झेल सके । निदान थोड़े दिनों के बाद मर गये । मगध साम्राज्य का स्वामी हुआ अजातशत्रु । अब देवदत्त अजातशत्रु की सहायता से गौतम बुद्ध को मारने की चेष्टा करने लगा ।

एक दिन महात्मा गौतम बुद्ध मगध राज्य के एक नगर में लोगों को त्याग और अहिंसा का उपदेश दे रहे थे । देवदत्त को जब यह पता चला तो उसने चार वाणधारियों को बुलाया । वे चारों धनुष-वाण चलाने में राज्य भर में प्रसिद्ध थे । देवदत्त ने उनसे कहा—"तुम तुरन्त जाओ और चारों दिशाओं से गौतम बुद्ध के ऊपर ऐसी वाण-वर्षा करो कि कुछ क्षणों में ही उसके प्राण-पखेरू उड़ जायँ।"

देवदत्त की आज्ञा पाकर चारों वाणधारी उस नगर में गये और चारों दिशाओं में खड़े होकर बुद्धजी पर वाण-वर्षा करने लगे । उन्होंने धनुषों से वाण-वर्षा की और उसके बदले महात्मा बुद्ध ने उन पर अपनी वाणी से अमृत-वर्षा की । जब महात्मा बुद्ध ने अपने विशाल ललाट को ऊपर करते हुए प्रेमपूर्ण नेत्रों से उन वाणधारियों की ओर देखा तो तपस्वी के तपोबल ने उन्हें क्रियाहीन बना दिया । उन चारों के धनुष वाण हाथों से गिर गये और वे गौतम बुद्ध के चरणों में शिर झुकाते हुए बोले——"महात्मन् ! हमारे अपराध क्षमा करो ।"

"तुम्हारा कल्याण हो ! तुम्हारी आत्मा उन्नत बने ! तुम सदा सत्य, अहिंसा और आत्म-पवित्रता का पाठ पढ़ते रहो !" इन शब्दों में गौतम बुद्ध ने प्रेमपूर्वक चारों को आशीर्वाद दिया । फिर चारों वाणधारी अपने-अपने धनुष वाण अग्नि में जलाकर अपने स्थानों को चले गये ।

देवदत्त को जब यह समाचार मिला कि वाणधारियों की वाण-

वर्षा से गौतम का बाल भी बाँका न हुआ, तो वह उनके मारने के दूसरे उपाय सोचने लगा।

एक दिन गौतम बुद्ध एक निर्जन वन में बैठे हुए थे। अनेक पशु-पक्षी उनके आसन के आस-पास आनन्द से घूम रहे थे। मृगों का झुण्ड सिंहों के साथ खेल रहा था और साँप मोरों के साथ क्रीड़ा-किलोल कर रहे थे। महात्मा बुद्ध उनकी खिलवाड़ देख-देख कर स्वर्गीय सुख प्राप्त करते थे। कुछ समय के पश्चात महात्मा ने संकेत करते हुए पशु-पक्षियों से कहा—"अब तुम जाओ। कहीं दूर जाकर अपना-अपना पेट भर आओ। मैं तब तक आत्म-चिन्तन में लगता हूँ।" महात्मा के इशारे को समझ कर सब पशु-पक्षी वहाँ से किसी दूर के वन-प्रदेश में चले गये।

महात्मा बुद्ध आत्मचिन्तन में निरत थे। अचानक एक सौ एक सैनिकों की भीड़ आई और बुद्धजी पर पत्थरों की वर्षा करने लगी। शान्ति तथा धैर्य की मूर्ति महात्मा बुद्ध पत्थरों की चोटों को सहते रहे और सैनिकों से प्रेमपूर्वक कहते रहे—"प्रिय पुत्रो आत्मा को पहिचानो! सत्य और अहिंसा को समझो! राग-द्वेष को छोड़ कर सच्चे ज्ञानी बनो!"

उनकी वाणी का सैनिकों पर इतना प्रभाव पड़ा कि सबने एक साथ पत्थर फेंकने बन्द कर दिये और वे बुद्धजी के चरणों में गिरकर क्षमा-याचना करने लगे।

जब देवदत्त के सारे प्रयत्न विफल होगये तो उसने अजातशत्रु के मदोन्मत्त हाथी 'नालगिरि' के द्वारा गौतम को कुचलवाने की सोची। 'नालगिरि' बड़ा उद्धत और क्रोधी था। जब वह क्रोध में आता था, तब किसी के वश में नहीं रहता था। जो कोई उसके सामने आजाता, उसे ही सूँड़ में लपेटकर अपने पाँव से कुचल देता था।

एक दिन गौतम बुद्ध पाटलिपुत्र नगरी में भिक्षा करने के लिए गये। सामने से राजपथ पर 'नालगिरि' हस्तिशाला से निकलकर

गरों को फोड़ता और वृक्षों को तोड़ता हुआ चला आरहा था। उसी राज-पथ पर एक भिखारिणी अपनी गोद में बालक लिये हुए जारही थी। 'नालगिरि' ने एक दम अबला भिखारिणी को अपनी सूँड़ में लपेट लिया। अबला की गोद में शिशु चीख रहा था और सूँड़ में लिपटी हुई अबला चीत्कार कर रही थी। उस समय किस में साहस था जो 'नालगिरि' के पास जाकर मृत्यु से टक्कर लेता। 'नालगिरि' की आँखें आग उगल रही थीं। महात्मा बुद्ध अबला की चीत्कार सुनकर एक दम दौड़े और तुरन्त 'नालगिरि' की सूँड़ को पकड़ लिया। उसकी ज्वालमाल पूर्ण आँखों से अपने प्रेमपूर्ण नेत्र मिलाते हुए महात्मा बुद्ध बोले—"नालगिरि! यह तुम क्या कर रहे हो? एक अबला पर इतना अत्याचार! यदि तुम्हें हिंसा ही करनी है तो मुझे अपने पाँवों से कुचल दो; परन्तु इस अबला को और इसके बालक को छोड़दो।"

महात्मा बुद्ध की आँखों ने दिव्य शक्ति का और वाणी ने जादू का असर दिखलाया। पल भर में ही 'नालगिरि' की उद्दंडता और मदोन्मत्तता धूल में मिल गई। वह स्त्री और बालक को छोड़ कर गौतम बुद्ध के चरणों में लोटने लगा। उस क्षण महात्मा के चरणों के नीचे से आने लगी 'नालगिरि' की क्षमा याचना की पुकार और पाटलिपुत्र में चारों ओर गूँज उठी महात्मा बुद्ध की जय-जय-कार।

महात्मा बुद्ध के चरित्र और तप का प्रभाव दिनों-दिन बढ़ने लगा। देवदत्त की क्रूरता जनता की आँखों के आगे साकार बनकर आने लगी। प्रजा निडर होकर कहने लगी कि—"देवदत्त ईर्ष्यालु है, द्वेषी है, क्रूर है और है बड़ा दुष्ट।"

अब देवदत्त ने गौतमबुद्ध को भूखा मारने की विधि सोची। उसने बुद्ध जी के शिष्यों को पिटवाना आरम्भ कर दिया। कुछ तो मार के डर से भाग गये और जो सच्चे शिष्य थे, वे गुरु गौतम की सेवा में डटे रहे। देवदत्त ने जब यह देखा कि गौतम

के कुछ शिष्य अब भी उसके लिए भिक्षा ले आते हैं, तो उसने उनके सारे भिक्षा-पात्र तुड़वा दिये और मगध राज्य की प्रजा में घोषणा करा दी कि—"यदि कोई गौतम के शिष्यों को भिक्षा देगा, तो उसको कारावास का कठोर दण्ड दिया जायगा।"

देवदत्त गौतम बुद्ध को अनेक कष्ट पहुँचाता, परन्तु शान्तिमूर्ति गौतम कुछ न कहते। यह देखकर धीरे-धीरे सारी प्रजा ही देवदत्त के विरुद्ध होगई। अजातशत्रु भी उससे घृणा करने लगा और एक दिन तिरस्कार के साथ उसे अजातशत्रु ने अपने राज्य से निकाल दिया। वह जिस नगर में जाता, वहीं से दुतकारा जाता। लोग उसको देखना भी पाप समझते थे। अपना जीवन अत्यन्त घृणापूर्ण मानते हुए देवदत्त ने एक दिन महात्मा गौतम बुद्ध के पास जाकर क्षमा माँगने का विचार किया।

देवदत्त आया और गौतम बुद्ध के आगे चुप-चाप बैठ गया। देवदत्त की मुख-मुद्रा से महात्मा बुद्ध ने उस की विचार-धारा को समझ लिया और कहा—'प्रिय देवदत्त। तम अपनी भूल स्वीकार करते हुए अब प्रायश्चित्त के लिए यहाँ आये हो। इससे मुझे परम प्रसन्नता है। मैं तुम्हारी मंगल-कामना का अभिलाषी हूँ।" इन शब्दों को सुनकर सब शिष्य पुकार उठे—"अहिंसा के पुजारी महात्मा बुद्ध की जय।"

प्रश्नमाला

(१) देवदत्त कौन था? उसे गौतम बुद्ध से क्यों ईर्ष्या होगई थी?
(२) किस घटना के आधार पर तुम सिद्ध कर सकते हो कि बुद्ध जी में हृदय की विशालता और महान् साहस था।
(३) नालगिरि हाथी को गौतम बुद्ध ने किस प्रकार अपने वश में किया?
(४) देवदत्त जब गौतम बुद्ध की शरण में आया तो उन्होंने उसके साथ कैसा व्यवहार किया?
(५) गौतम बुद्ध को हम महात्मा नाम से क्यों पुकारते हैं? उन में महात्माओं के क्या-क्या गुण थे?

महात्मा ईसा मसीह

प्रभात की स्वर्णिम वेला थी। बाल विहग अपने नीड़ों
मृदु एवं मधुर स्वर के साथ गीत गारहे थे। प्राची दिशा की गो
में से मुँह चमकाने वाले बाल रवि की अरुण किरणें यरूशल
की पर्वतश्रेणियों तथा वृक्षावलियों के उत्तुंग शिखरों पर पड़ रह
थीं। आकाश की ओर आँख उठानेवाली पर्वतमालाएँ सुनहर
छवि से सुशोभित हो रही थीं। झरने 'झर-झर' करते हुए झर र
थे। शीतल, मन्द, सुगंध पवन बह रहा था। कभी-कभी चंचल
पवन वृक्षावलियों से अठखेलियाँ—सी करने लगता था। संपूर
प्रकृति उल्लास मयी प्रतीत होती थी। यरूशलम नगर भी अत्यन्त
सुन्दर तथा शोभनीय दृष्टि गोचर होरहा था। उसकी गली-गली
और मार्ग-मार्ग में नर---नारियों की भीड़ लगी हुई थी। नगर--
निवासी घरों से निकल निकलकर प्रातःकाल से ही निकटवर्ती
पर्वतीय स्थान की ओर जारहे थे। उनमें फरेसियों और यहूदियों
के धर्मोपदेष्टा भी थे। उसी पर्वतीय स्थान पर हजरत मसीह
आज पहले-से ही पहुँच गये थे। पितरस, याकूब और युसन्ना भी
उनके साथ थे।

पर्वत के एक उच्च शिखर पर पत्तों का आसन बिछाये हुए
महात्मा मसीह बैठे थे। उनके विशाल एवं उन्नत ललाट से,
त्याग, तपस्या, साहस, निर्भीकता तथा समाज-सेवा की प्रखर
ज्योति निकल रही थी। उनका मुख-मंडल दिव्य तेज से सूर्य की
भाँति प्रदीप्त होरहा था। शनैः-शनैः यरूशलम की सारी जनता
हजरत मसीह का उपदेश सुनने के लिए वहाँ पहुँच गई।

हजरत मसीह अपना धर्मोपदेश आरम्भ करने ही वाले थे कि

यहूदियों के एक धर्माचार्य ने उनसे यह प्रश्न पूछा—"परमात्मा का सब से बड़ा आदेश क्या है?"

महात्मा मसीह ने उत्तर दिया—"हम सबका जो एक प्रभु है, उसकी सबसे बड़ी आज्ञा यह है कि हम मानव मात्र को अपने समान ही प्यार करें। शुद्ध आत्मा से सच्चा व्यवहार ही हमारे लिए कल्याणकारी है।"

पूछे हुए प्रश्न का उत्तर देने के उपरान्त हजरत मसीह ने उपस्थित जनता को धर्मोपदेश दिया और उसी समय फरीसियों और यहूदियों के धर्माचार्यों को सम्बोधन करते हुए कहा—"हे धर्माचार्यो! सत्य पथ का अनुसरण करो। पाखंड, छल और कपट आदि से पृथक् होकर पवित्र जीवन बिताओ। ईश्वर को पहिचानो। तुम भोली-भाली जनता को ज्ञान और धर्म के ठेकेदार बनके ठगो मत। तुमने ईश्वर ज्ञान की कुंजी तो लेली है, परन्तु न तो तुम स्वयं अन्दर प्रविष्ट होते हो और न किसी दूसरे को होने देते हो। तुम्हारे इस जघन्य जीवन को धिक्कार है। तुम्हारा शरीर एवं व्यक्तित्व उन कब्रों के समान है जो सफाई के कारण बाहर से सुन्दर और आकर्षक तो प्रतीत होती है परन्तु उनके भीतर केवल दुर्गन्ध-युक्त हड्डियों को छोड़कर कुछ नहीं होता।"

ऐसे स्पष्ट शब्दों को सुनकर फरीसी, यहूदी और काहन लोगों के धर्मोपदेशक महात्मा मसीह से ईर्ष्या-द्वेष रखने लगे। गुप्तरूप में वे परस्पर यह परामर्श करते थे कि मसीह को ऐसी बातों में फँसायें जिससे उस पर राज्य-विद्रोह का अभियोग चलाया जाय और फिर वह मृत्यु-दंड पा जाय।

एक दिन महात्मा मसीह यरूशलम के वन प्रदेश में अपने कुछ शिष्यों के साथ घूम रहे थे। आगे-आगे महात्मा मसीह थे और पीछे-पीछे उनके शिष्य। हजरत मसीह ने वार्तालाप में ही ईश्वर और धर्म का गूढ़ रहस्य अपने शिष्यों को समझा दिया। सन्ध्या हो चली थी, सूर्यदेव अपना प्रकाश समेट कर पश्चिम की

ओर जारहे थे और कुछ ही क्षणों में अस्ताचल की शरण लेनेवाले थे। शिष्यों के केवल एक ही प्रश्न का उत्तर महात्मा मसीह दे पाये थे कि चारों ओर घनान्धकार छागया। रात्रि हो जाने के कारण महात्मा ने अपने शिष्यों से घर जाने के लिए कहा। गुरु के शब्दों को सुनकर शिष्यों ने निवेदन किया—गुरुवर! हम इस वन-प्रान्त में रात्रि के समय आपको एकाकी नहीं छोड़ सकते।"

हजरत मसीह ने उन्हें समझाते हुए कहा—"पुत्रो तुम, आनन्द-पूर्वक जाओ। मेरी कोई चिन्ता न करो। मैं तो इस वन-प्रदेश में निश्चिन्त रूप से रात्रि व्यतीत करूँगा।"

'आप निश्चिन्त रूप से रात्रि व्यतीत नहीं कर सकते गुरुदेव! हमने सुना है कि काहन लोग और उनके सरदार तलवार और लाठियाँ लेकर आपका प्राणान्त करने के लिए आनेवाले हैं। आज रात को हम आपको अकेला छोड़कर जाना नहीं चाहते। हमें पूर्णाशा है कि आप आज के लिए हमें क्षमा करेंगे और अपनी सेवा का स्वर्ण अवसर हमें प्रदान करेंगे।"

"यदि मेरी मृत्यु की घड़ी आपहुँची है तो फिर कोई भी नहीं बचा सकता, यदि आदम का पुत्र अपना कर्तव्य पालन करते हुए पापियों के हाथ से माराजाय तो कोई चिन्तनीय विषय नहीं। तुम मेरी चिन्ता छोड़ो और आनन्द पूर्वक घर जाओ शिष्यो!"

गुरु से विदाई लेकर घर जाने का प्रसंग चल ही रहा था कि इतने में काहन जाति के सरदारों का गिरोह एक दम तलवारें और लाठियाँ लेकर वहाँ आपहुँचा। उन्होंने हजरत ईसामसीह को तलवारें दिखाते हुए क्रोधावेश में कहा—"मसीह! हमने तुम्हारे उपदेश सुने हैं! तुम हमारे लिए विष उगलते हो। आज से तुम शपथ लो कि अब धर्माचार्यों की बुराई न होगी। यदि तुमने अपने उपदेशों का रवैया न बदला तो हमारी ये लाठी और तलवारें होंगी और उनके सामने होगा तुम्हारा सिर। यदि तुम्हें अपने प्राण

प्यारे हैं तो हमारी बातों पर पूरी तरह ध्यान दो। मसीह! जल्दी बताओ क्या कहते हो?"

"म जो कुछ कहता हूँ, वह आत्मा की आवाज है। संसार में मैं अधर्म, अन्याय और पाखंड नहीं देख सकता। मुझे पापाचार का विनाश करना है। मैं कहूँगा और निर्भीक होकर कहूँगा। लाठियों और तलवारों का भय मुझे अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता। मैं प्राणपण से अपने कर्तव्य का पालन करूँगा। मैं धर्माचार्यों के पाखंड का विरोधी हूँ काहन सरदारो!'

ईसा मसीह के इन स्पष्ट तथा निर्भीक शब्दों को सुनकर काहन सरदार एक क्षण में ही आग बबूला होगये। वे एक साथ लाठियाँ लेकर निर्दोष मसीह को बुरी तरह पीटने लगे। उनके शिष्य अपने गुरु की रक्षा के लिए भोड़े परन्तु काहन लोगों ने बीच में ही उन्हें पकड़लिया और रस्सी से बाँधकर डाल दिया। हजरत ईसा के शरीर पर लाठियों का भीषण प्रहार होरहा था और महात्मा ईसा अहिंसा के देवता बने हुए उनकी चोटें बिना आह और कराह के सह रहे थे। लाठियों की मार का उत्तर वे मृदुल वाणी से देते थे। 'पत्थरों के बदले महात्मा मसीह काहनों को आशीर्वाद का अमृत पिलारहे थे। प्रति पल यही पुकारते थे—"हे ईश्वर। तू इन पथ भ्रष्टों को सत्य-पथ पर ला। ये पाखंड को छोड़ सच्चे धर्म को समझें मैं यही प्रार्थना करता हूँ। हे अखिलेश तुम इन क्रूरों के हृदयों से क्रूरता निकालो और इनका कल्याण करो।"

ईसा मसीह को मूर्च्छित-सा देखकर एक सरदार ने कहा कि- अब मसीह को मत मारो। यदि यह मरगया तो कैसर की अदालत में हम पर भी अभियोग चल सकता है। इसलिए इसको जीवित ही बादशाह के सामने लेचलो। राज-विद्रोही सिद्ध करते हुए हम इसे मृत्यु-दंड दिलवादेंगे

महात्मा ईसा ने अपनी वाणी से व्यक्त न की। वधशाला के भीषण क्रास पर बेचारे निर्दोष मसीह चढ़ाये गये। उनके हाथों-और पाँवों में लोहे की तम ताम्र वर्णा कीलें ठोंक दी गईं। काहन लोग उनके समक्ष उपस्थित हुए उनकी हँसी उड़ा रहे थे। इस पर मानवता के पुजारी हजरत ईसा मसीह ने कहा—"हे परम पिता परमेश्वर! तुम इनके हृदयों में सच्चा प्रेम पैदा करो। ये अज्ञान हैं। तुम इनका अपराध क्षमा करना। ये नहीं जानते कि हमें क्या कहना और क्या करना चाहिए। मेरे प्यारे काहनों! मैं अब अपने पिता की गोद में जाता हूँ वह तुम्हारा कल्याण करे! यही मेरी अंतिम कामना है।'

प्रश्न-माला

(१) यहूदियों के धर्माचार्य ने ईसामसीह से क्या प्रश्न पूछा था?
(२) काहन जाति के सरदारों ने महात्मा ईसा को क्यों पीटा?
(३) कैसर के न्यायाधीश ने महात्मा ईसा से क्या पूछा?
(४) ईसा मसीह ने कैसर के न्यायाधीश को क्या उत्तर दिया?
(५) मृत्युदंड के समय ईसा मसीह को क्या-क्या आपत्तियाँ सहन करनी पड़ीं?
(६) क्रास पर खींचे जाते समय महात्मा ईसा ने ईश्वर से क्या प्रार्थना की थी?

महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप

स्वाधीनता के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक एवं मातृभूमि मेवाड़ के सच्चे सपूत राणा प्रताप आज बाघम्बर से शोभायमान सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके ललाट से स्वातंत्र्य का तेज प्रकट हो रहा है। राजपूती रक्त की उमंगपूर्ण तरंग उनकी रग-रग में तरंगित होरही है। उनके अंग-प्रत्यंग में साहस और शक्ति का संचार होरहा है। उनके हृदय के कोने-कोने में मेवाड़ की मान-मर्यादा तथा स्वातंत्र्य-रक्षा की एक अद्भुत लहर उठरही है। दरबार में अनेक वीर योद्धा यथा स्थान बैठे हैं। सब राजपूतों की मुख-मुद्राएं वीरता, उत्साह एवं उल्लास के प्रकाश से चमक रही हैं। सिंहासन के समक्ष सुशोभित हुए सरदारों के मस्तक गौरव से ऊपर चढ़े हुए हैं। महाराणा प्रताप उनसे कहरहे हैं:—

"वीरो! आज हम सबको अपनी राजपूती आन-बान पर गर्व है। हमें महान हर्ष है कि हमारी जन्म-भूमि स्वतंत्र है मुग़ल सम्राट् अकबर इच्छा रखते हुए भी इसकी ओर आँख भी नहीं उठा सका है।"

राणा प्रताप के इन शब्दों को सुनकर एक राजपूत सरदार ने कहा—"हमें आज अपार आनन्द क्यों न हो नरेश्वर! मातामही की स्वतंत्रता आपके शक्तिशाली भुजदण्डों के ही बल पर टिकी है और सदा टिकी रहेगी। जन्म-भूमि आप जैसे सपूत को पाकर आज फूली नहीं समाती महाराणा!"

कुछ क्षणों के उपरान्त सरदारों को सम्बोधित करते हुए राणा प्रताप ने फिर कहा—"वीर सरदारो! मुझे हर्ष के साथ यह खेद भी है कि बहुत-से राजपूत राजाओं ने अपने देश तथा जाति की

मान-मर्यादा को बेचडाला है । किस लिए ? अकबर से प्राणों की भिक्षा माँगकर झूठी तथा घृणित राजसत्ता का निन्दनीय मुकुट धारण करने के लिए। एक ठुकराये हुए पददलित प्राणी की भाँति जीवन व्यतीत करने के लिए। मैंने सुना है कि मानसिंह ने भी अपनी मान-मर्यादा को तिलांजलि देकर अकबर से रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित करलिया है।"

इन शब्दों में महाराणा अपने विचार व्यक्त कर ही रहे थे कि दक्षिण-विजय से लौटे हुए मानसिंह ने राज दरबार में प्रवेश किया। महाराणा के दरबार की शोभा को देखकर मानसिंह कुछ पलों के लिए अपलक ही बने रहे। दरबार और सिंहासन की अनिर्वचनीय सजधज और आकर्षक सौन्दर्य को देखकर वे आश्चर्यचकित होगये। वे देखने लगे कि प्रत्येक राजपूत सरदार के ललाट पर गौरव का तेज एवं स्वातंत्र्य का ओज है। एक विशाल सिंहासन पर महाराणा प्रताप विराजमान हैं। सिंहासन के चारों ओर झालरें लटकरही हैं और उनमें मोतियों की लड़ियाँ चमकरही हैं। महाराणा के विशाल मस्तक पर स्वर्ण-मुकुट शोभा पारहा है। उनकी मुखाकृति में अनुपम ओज और नेत्रों में जीवन-ज्योति है। उनके रोम-रोम में वीरता तथा स्वतंत्रता झलक रही है। वे मेवाड़-सिंहासन पर सिंह के समान ही आसीन हैं।

मानसिंह को देखकर राणा प्रताप के मन में पहले घृणा-सी उत्पन्न हुई, परन्तु आतिथ्य-सत्कार के नाते उन्होंने मानसिंह का स्वागत किया और आसन पर बिठाया।

सन्ध्या होगई थी। सभा की कार्यवाही समाप्त करदी गई। परिषद् के सब प्रधान व्यक्ति अपने-अपने स्थानों को चले गये। महाराणा भी मानसिंह के साथ राज-प्रासाद में चले गये। कुछ ही समय के उपरान्त अमरसिंह मानसिंह को एक सुन्दर स्थान पर ले गये। वहाँ मानसिंह ने उच्च मंच पर दो आसन बिछे हुए देखे। अमरसिंह और मानसिंह उन पर जाकर बैठ गये। स्वर्ण-थालों में

सजे हुए षट्रस व्यंजन भी सामने आगये। तब मानसिंह ने अमरसिंह से कहा—"अमर, तुम्हारे पिताजी कहाँ हैं ? तुम उन्हें बुला लाओ। मैं प्रताप के साथ ही आज भोजन करूँगा।"

अमर तुरन्त महाराणा प्रताप के पास गया और कहने लगा—"पिता जी, राजा मानसिंह जी भोजन पर आपको याद कर रहे हैं। वे आपके साथ ही भोजन करना चाहते हैं।"

राणा प्रताप ने अपने पुत्र को उत्तर देते हुए कहा——"अमर, तुम जाओ और मानसिंह से कहदो कि पिताजी के सिर में दर्द है, वे आज भोजन नहीं करेंगे।"

अमरसिंह ने जाकर राजा मानसिंह से कह दिया कि—"इस समय पिताजी के सिर में पीड़ा है। वे आपके साथ भोजन करने में असमर्थ हैं।"

मानसिंह महाराणा के हृदय का भाव समझ गया। अपने प्रति तिरस्कार की भावना से विक्षुब्ध हुआ मानसिंह आवेश में आकर कहने लगा—"राणा प्रताप के सिर में जैसा दर्द है, उसे मैं भली भाँति समझता हूँ। अच्छा, मैं अब जाता हूँ और शीघ्र ही उनके सिर-दर्द की अचूक औषधि लेकर लौटूँगा। ओ प्रताप! तुझे इतना अभिमान! मेरे साथ भोजन करने में तू लज्जा और संकोच अनुभव करता है। देख, और भली प्रकार सुन, यदि मैं तेरे इस मद और घमंड को चूर्ण न करदूँ और पूर्णतया तेरा मान-मर्दन न करदूँ तो मेरा नाम भी मान नहीं।"

जिस समय मानसिंह यह शब्द कह रहा था। उस समय प्रताप पाकशाला के निकटवाले कक्ष में ही थे। मानसिंह के मुख से तिरस्कार पूर्ण शब्द सुनते ही प्रताप के शरीर में राजपूती रक्त खौलने लगा। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों किसी ने सोते हुए सिंह को कच्ची नींद में ही जगा दिया हो। महाराणा एक दम मानसिंह के पास आये, आवेश में भर कर कहने लगे——"मुगल बादशाह के दरबार में शराब की चुसकियाँ लेने वाले मान! मैं तुम्हारे साथ

मान-मर्यादा को बेच डाला है। किस लिए? अकबर से प्राणों क
भिक्षा माँगकर झूठी तथा घृणित राजसत्ता का निन्दनीय मुकु
धारण करने के लिए। एक ठुकराये हुए पददलित प्राणी की भाँि
जीवन व्यतीत करने के लिए। मैंने सुना है कि मानसिंह ने भ
अपनी मान-मर्यादा को तिलांजलि देकर अकबर से रोटी-बेटी क
सम्बन्ध स्थापित करलिया है।"

इन शब्दों में महाराणा अपने विचार व्यक्त कर ही रहे थे कि
दक्षिण-विजय से लौटे हुए मानसिंह ने राज दरबार में प्रवेश किया। महाराणा के दरबार की शोभा को देखकर मानसिंह कुछ पलों के लिए अपलक ही बने रहे। दरबार और सिंहासन की अनिर्वचनीय सजधज और आकर्षक सौन्दर्य को देखकर वे आश्चर्यचकित होगये। वे देखने लगे कि प्रत्येक राजपूत सरदार के ललाट पर गौरव का तेज एवं स्वातंत्र्य का ओज है। एक विशाल सिंहासन पर महाराणा प्रताप विराजमान हैं। सिंहासन के चारों ओर झालरें लटकरही हैं और उनमें मोतियों की लड़ियाँ चमकरही हैं। महाराणा के विशाल मस्तक पर स्वर्ण-मुकुट शोभा पारहा है। उनकी मुखाकृति में अनुपम ओज और नेत्रों में जीवन-ज्योति है। उनके रोम-रोम में वीरता तथा स्वतंत्रता झलक रही है। वे मेवाड़-सिंहासन पर सिंह के समान ही आसीन हैं।

मानसिंह को देखकर राणा प्रताप के मन में पहले घृणा-सी उत्पन्न हुई, परन्तु आतिथ्य-सत्कार के नाते उन्होंने मानसिंह का स्वागत किया और आसन पर बिठाया।

सन्ध्या होगई थी। सभा की कार्यवाही समाप्त करदी गई। परिषद् के सब प्रधान व्यक्ति अपने-अपने स्थानों को चले गये। महाराणा भी मानसिंह के साथ राज-प्रासाद में चले गये। कुछ ही समय के उपरान्त अमरसिंह मानसिंह को एक सुन्दर स्थान पर ले गये। वहाँ मानसिंह ने उच्च मंच पर दो आसन बिछे हुए देखे। अमरसिंह और मानसिंह उन पर जाकर बैठ गये। स्वर्ण-थालों में

सजे हुए षट्रस व्यंजन भी सामने आगये। तब मानसिंह ने अमरसिंह से कहा—"अमर, तुम्हारे पिताजी कहाँ हैं? तुम उन्हें बुला लाओ। मैं प्रताप के साथ ही आज भोजन करूंगा।"

अमर तुरन्त महाराणा प्रताप के पास गया और कहने लगा—"पिता जी, राजा मानसिंह जी भोजन पर आपको याद कर रहे हैं। वे आपके साथ ही भोजन करना चाहते हैं।"

राणा प्रताप ने अपने पुत्र को उत्तर देते हुए कहा——"अमर, तुम जाओ और मानसिंह से कहदो कि पिताजी के सिर में दर्द है, वे आज भोजन नहीं करेंगे।"

अमरसिंह ने आकर राजा मानसिंह से कह दिया कि—"इस समय पिताजी के सिर में पीड़ा है। वे आपके साथ भोजन करने में असमर्थ हैं।"

मानसिंह महाराणा के हृदय का भाव समझ गया। अपने प्रति तिरस्कार की भावना से विक्षुब्ध हुआ मानसिंह आवेश में आकर कहने लगा—"राणा प्रताप के सिर में जैसा दर्द है, उसे मैं भली भाँति समझता हूँ। अच्छा, मैं अब जाता हूँ और शीघ्र ही उनके सिर-दर्द की अचूक औषधि लेकर लौटूंगा। ओ प्रताप! तुझे इतना अभिमान! मेरे साथ भोजन करने में तू लज्जा और संकोच अनुभव करता है। देख, और भली प्रकार सुन, यदि मैं तेरे इस मद और घमंड को चूर्ण न करदूँ और पूर्णतया तेरा मान-मर्दन न करदूँ तो मेरा नाम भी मान नहीं।"

जिस समय मानसिंह यह शब्द कह रहा था। उस समय प्रताप पाकशाला के निकटवाले कक्ष में ही थे। मानसिंह के मुख से तिरस्कार पूर्ण शब्द सुनते ही प्रताप के शरीर में राजपूती रक्त खौलने लगा। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों किसी ने सोते हुए सिंह को कच्ची नींद में ही जगा दिया हो। महाराणा एक दम मानसिंह के पास आये, आवेश में भर कर कहने लगे——"मुगल बादशाह के दरबार में शराब की चुसकियाँ लेने वाले मान! मैं तुम्हारे साथ

भोजन करना अपना आत्म पतन समझता हूँ। मुसलमानों की संगति में रहते-रहते और अकबर के चरणों पर मस्तक झुकाते-झुकाते तुम्हारा राजपूती रक्त दूषित हो चुका है। जाओ! राजपूती आन को धूल में मिलाने वाले, मुग़ल सम्राट् के चरणों में बैठकर चाटुकारी करने वाले, अपनी मातासही को चन्द चाँदी के टुकड़ों पर बेचने वाले अतिथि! जाओ। तुम आना और मेरे सिर-दर्द की औषधि लाना! मैं आज तुम्हें निमंत्रण देता हूँ और साथ में चुनौती भी। मान मर्दित मान! तुम आना और साथ में अपने फूफा अकबर को भी लाना।"

मादक मधु की मादकता में मुग़ल सरदार मदोन्मत्त हो रहे थे। एक उच्च आसन पर बादशाह अकबर भी बैठा हुआ था। सहसा मानसिंह ने दरबार में प्रवेश किया। उसकी आकृति पर क्रोध और अपमान की लाल और काली रेखाएँ दिखाई दे रही थीं। दिल्लीपति सम्राट् अकबर ने मानसिंह के मुख की ओर देखते हुए कहा—'मानसिंह! आज तुम इतने चिन्ता-निमग्न क्यों दिखाई पड़ रहे हो? इसका क्या कारण है? मैं पूरी तरह जानना चाहता हूँ।"

उत्तर में मानसिंह ने कहा—"दिल्लीपति सम्राट! मेरा अपमान हुआ है। यह अपमान घोर घृणा से परिपूर्ण है। मैं इसे आजीवन नहीं भूल सकता। जब तक मैं उससे प्रतिशोध न लेलूँगा तब तक मुझे शान्ति नहीं।"

"हैं! हैं!! तुम्हारा अपमान! मानसिंह का अपमान किसमें शक्ति है इतनी? मुझे उसका नाम तो बतलाओ मानसिंह!"

मुग़ल सम्राट्! वह व्यक्ति मुग़ल राज्य का शत्रु घमंडी प्रताप है। मैं उस पर आक्रमण करूँगा। एक क्षण का विलम्ब भी मेरे लिए असह्य है। मुझे सेनासहित रण-क्षेत्र में जाने के लिए शीघ्र आज्ञा दीजिए दिल्ली नरेश!"

अकबर तो ऐसे अवसर की ताक में बैठा ही था। एक और एक मिलकर ग्यारह हुए। सम्राट् अकबर इस स्वर्ण अवसर को

हाथ से कैसे जाने देता? उसने सहर्ष आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही मानसिंह ने सेना सजा कर और सलीम को साथ लेकर आक्रमण के लिए प्रस्थान किया। बादलों की भाँति उमड़-घुमड़ कर घनान्धकार छा देने वाली मुग़ल सेना युद्ध के लिए चल पड़ी।

हल्दीघाटी के निकट पहुँच कर, मुगल सेना ने पड़ाव डाल दिया।

जब यह समाचार महाराणा प्रताप को मिला तो वह राजपूत वीरों को साथ लेकर अपने युद्ध जीवन का प्रथम पाठ पढ़ने के लिए रण-भूमि की ओर चल पड़ा। मुगलों की सेना बहुत विशाल थी। उनके पास युद्ध का सब सामग्रियाँ थीं। राजपूत वीर संख्या में तो बहुत थोड़े थे। परन्तु उनमें देशप्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे स्वतंत्रता की वेदी पर प्राणों का बलिदान देने वाले वीर सेनानी थे। मुगल सेना ने राजपूत-सेना को आते हुए देखा। आगे आगे रण-केशरी महाराणा प्रताप एक हाथ में झंडा तथा दूसरे में नागिन सी लहराती हुई चमकती तलवार लिए बढ़े चले आ रहे थे। तब उन्हें देख कर मुगलों ने भी अपना झंडा ऊपर उठा लिया और "अल्लाहो अकबर" का नारा लगाना प्रारम्भ किया। इसके प्रत्युत्तर में राजपूतों ने ' जय एक लिंग" और "हर हर महादेव" का जय-घोष किया। मुगलों की 'अल्लाहो अकबर' तथा राजपूतों की 'हर हर महादेव' की तुमुल ध्वनि नभ-मंडल में गूँज उठी। दोनों ओर के सैनिक जय घोष करते हुए आगे बढ़ रहे थे। जब सेनाएँ बहुत निकट आ गई तो सर्व प्रथम मानसिंह ने महाराणा प्रताप पर लक्ष्य करके भाला चलाया, परन्तु उनका चेतक एक ओर को उछल गया और वार खाली गया। फिर क्या था; राजपूत भूखे सिंहों की भाँति मुगल सेना पर टूट पड़े। चारों ओर बर्छी भाले चमक रहे थे। तलवारें लहरा रही थीं। महाराणा प्रताप अपनी चमकती हुई तलवार को लेकर जिस ओर झपटते, उधर ही शत्रु की सेना में भगदड़ मच जाती। चेतक भी अपनी

टापों से मुगल सैनिकों को कुचलता जा रहा था। सैनिक एक दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे थे। युद्ध की वेदी पर प्राणों की आहुति दी जा रही थी। रक्त की नदियाँ बह चली थीं। रणचन्डी आज प्रसन्न हो रही थी। वीरों की भुजाएँ फड़क रही थीं। घमासान युद्ध हो रहा था। वैसे तो राजपूतों ने भी बहुत वीरता दिखलाई परन्तु राजपूत अपार मुगल सेना के सामने डट न सके। महाराणा को भी मुगल सैनिकों ने बुरी तरह से घेर लिया। यह देखते ही राजपूत सरदार झाला दौड़ा, और प्रताप के समीप आकर कहने लगा——"महाराणा मातृ-भूमि की रक्षा के लिए आपको समर-भूमि से जाना ही पड़ेगा। आप मेवाड़ की आशा हैं, देश की स्वाधीनता की प्रबल ज्योति हैं। आप हमारे गौरव हैं। माता मही मौनरूप से आपसे प्रार्थना कर रही है। प्रताप! आप शीघ्र ही युद्धस्थल छोड़ दें।"

यह कहते ही झाला ने प्रताप का मुकुट अपने सिर पर धारण कर लिया। मुगल-सैनिक तो मुकुट को देखकर यही समझे कि यही प्रताप है। अब मुगलों के भाले और तलवारें झाला के ऊपर पड़ने लगीं। राणा प्रताप रण-क्षेत्र की सीमा को पार कर चुके थे। कुछ दूर जाकर एक नाले को पार करते ही प्रताप का चेतक मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। और उसने सदैव के लिए अपने नेत्र बन्द कर लिये। सहसा प्रताप के मुख से भी ये शब्द निकल पड़े——"चेतक! मेरे प्रिय अश्व! आज तू ऐसी दशा में मुझसे अलग हो रहा है। तूने जीवन भर मेरा साथ दिया। तुझे लेकर मैंने स्वतंत्रता का पाठ पढ़ा। परन्तु आज तू मुझको एकाकी छोड़कर चल बसा।" इसी समय महाराणा ने देखा कि शक्तिसिंह तीव्र गति से उनकी ओर घोड़ा दौड़ाये आ रहा है। प्रताप सोचने लगा कि भाई शक्तिसिंह ने भी आज अच्छा अवसर पाया कि युद्ध से पीड़ित प्रताप पर आक्रमण करके वह अपनी इच्छा पूर्ति करे। प्रताप कुछ चिन्तितावस्था में खड़े थे। शक्तिसिंह घोड़े से उतर

कर प्रताप के चरणों में झुक गया और अपने घोड़े की लगाम प्रताप के हाथ में देता हुआ बोला—"भैया ! आप मेरे घोड़े पर सवार होकर यहाँ से शीघ्र ही चले जाइये। शक्तिसिंह के ऐसे व्यवहार को देखकर प्रताप के हृदय में प्रेम का स्रोत बहने लगा और उसने शक्तिसिंह को हृदय से लगा लिया। दोनों देश-प्रेमियों के मिलन से प्रकृति इतनी आनन्द विभोर हो उठी कि वह मूक-सी बन गई। आकाश और धरणी प्रताप को धन्यवाद दे रहे थे।

तदुपरान्त प्रताप एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता हुआ फिरता रहा। मुगल सेना ने भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। आज इसे मुगलों को एक दुर्ग देना पड़ा; कल दूसरा तो परसों तीसरा। इस प्रकार से जब सब किले छिन गये तो अन्त में विवश होकर उसे जंगलों की खाक छाननी पड़ी।

प्रताप अरवली पर्वत की कन्दराओं में घूम रहे हैं। जहाँ पर वृक्षावली वायु के झोंकों के साथ हिल रही है, मानों कि प्रताप को अपनी छाया में विश्राम करने के लिए बुला रही हो। झरने झर रहे हैं मानों प्रताप के आगमन के उपलक्ष्य में बाजे बज रहे हों। पक्षी मनोहर कलरव में प्रताप का यशोगान कर रहे हैं। हिंसक पशु पालतू बने प्रताप के पीछे-पीछे फिर रहे हैं। जान पड़ता है कि प्रकृति प्रत्येक स्थान पर स्वतंत्रता के उपासक महाराणा प्रताप के स्वागत के लिए जयमाला लिये खड़ी है।

वे जहाँ भी दृष्टि डालते हैं चारों ओर वन ही वन दिखलाई देता है। इस वन के मध्य भाग में एक झोंपड़ी बनी हुई है। जिसको अनेक प्रकार की बेलें व लताएँ चारों ओर से घेरे हुए हैं। उसके अन्दर महाराणा प्रताप अपनी धर्म-पत्नी तथा दो बच्चों सहित बैठे हुए हैं। उनकी मुद्रा से यह प्रकट होता है कि वे गम्भीर चिन्तन में हैं।

धीरे-धीरे दिवस बीतते गये। एक दिन गया, दूसरा दिन व्यतीत हुआ, एक सप्ताह बीता, फिर मास बीते। इसी प्रकार वर्ष व्यतीत

(३) हल्दी घाटी के युद्ध का वर्णन कीजिए।
(४) चेतक कौन था? जिस समय उसका प्राणान्त हुआ प्रताप के मुख से क्या शब्द निकले?
(५) वन में महाराणा प्रताप को किन किन आपत्तियों को सहन करना पड़ा?
(६) क्या भूखों मरते हुए बच्चों को देखकर महाराणा प्रताप द्रवित हुए? यदि नहीं तो क्यों?

साहसी शिवा

शुक्ल-पक्ष की रात्रि थी। पूर्णिमा के कारण चन्द्रमा की किरणों में प्रकाश के साथ-साथ कुछ शीतलता भी बढ़ गई थी। भोमा नदी कल-कल करती हुई बड़े वेग से बह रही थी। पूना का निकटवर्ती वन-प्रदेश आज स्वर्गीय छटा छटका रहा था। आकाश के तारे भोमा के जल को दर्पण मानते हुए उसमें अपने मुखों की शोभा देख रहे थे। उसी रमणीय वन-प्रान्त में एक छोटा-सा आश्रम था। जिसके अधिपति थे समर्थ गुरु स्वामी रामदास। स्वामी रामदास जी के बीस शिष्य थे। उनमें सबसे छोटे शिष्य का नाम 'शिवा' था। उसकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी। परन्तु लाठी और तलवार चलाने में शिवा सबका गुरु था। शिवा ने अपने साथियों से कहा——"भाइयो! इस समय चाँदनी रात बड़ी सुहावनी लग रही है। सारी धरती पर दूध-सा फैल रहा है। संपूर्ण प्रकृति धवल, उज्ज्वल, शुभ्र और शान्त है। आओ भोमा के किनारे पर चलें और वहाँ कुछ देर लाठी और तलवार चलावें।"

सब साथियों को शिवा का प्रस्ताव अच्छा लगा और गुरुजी से आज्ञा लेकर सब के सब भोमा नदी के तट पर खेलने चले गये। सब शिष्य भोमा के तट पर पहुँचे ही थे कि शिवा एक साथ पूछ

पूछा—"आज की रात में गुरु-सेवा का कार्य किस पर है?" कुछ क्षणों तक विचारने के उपरान्त मदन और शोभन बोले—"आज की रात में तो गुरु-सेवा के लिए हमारी बारी निश्चित हुई थी।" इस वाक्य को सुनकर शिवा बोला—"तो आप दोनों को तुरन्त आश्रम में जाकर गुरुजी की सेवा में लग जाना चाहिए।" शिवा के कथनानुसार मदन और शोभन तो लौट आये और शेष शिष्य नदी के तट पर खेलते रहे।

समर्थ गुरु स्वामी रामदास स्फटिकशिला पर लेटे हुए थे। मदन और शोभन आये और प्रणाम करते हुए गुरुजी के चरणों के पास बैठ गये। कुछ ही मिनटों के बाद मदन ने गुरुजी की दाहिनी टाँग और शोभन ने बाईं टाँग दाबनी आरम्भ करदी। दोनों शिष्य टांगें दाबते जारहे थे और गुरुजी उनकी दिन-चर्या का विवरण सुनते जारहे थे।

दोनों शिष्यों को पाँव दाबते हुए लगभग आधा घन्टा ही हुआ होगा कि गुरु रामदास कुछ-कुछ कराहते हुए करवटें बदलने लगे। उनके शरीर की बेचैनी देखकर दोनों शिष्यों ने पूछा —"गुरुजी! क्या बात है? आप कराहते हुए इधर से उधर करवटें क्यों बदल रहे हैं?" स्वामी रामदासजी ने कहा—"शिष्यो! इस समय मेरे पेट में बड़ा भारी दर्द है। इसी बेचैनी के कारण मैं करवटें बदल रहा हूँ।"

गुरुजी की बेचैनी की बात से घबराया हुआ मदन एक दम दौड़ता हुआ भीमा नदी के किनारे पर पहुँचा और सब शिष्यों को गुरुजी की उदर-पीड़ा का समाचार सुनाया। वे सब दौड़ते हुए आश्रम में आये और गुरुजी की परिचर्या में लग गये। अपनी-अपनी सूझ और बुद्धि के अनुसार हर एक औषधोपचार कर रहा था परन्तु पीड़ा पल पल पर बढ़ती जारही थी। गुरुजी की व्याकुलता को देखकर सब शिष्य किंकर्तव्य विमूढ़ से हो रहे थे।

बिजली कौंधा मारकर कड़कने लगी। बड़े जोर से हवा भी चलने लगी और मूसलाधार पानी बरसने लगा। बादलों के कारण वन में घोर अँधेरा था। हाथों-हाथ भी कुछ दिखाई नहीं देता था। मूसलाधार वर्षा में ओलों की बौछारें भी पड़ रही थीं परन्तु साहसी और कर्मशील गुरु भक्त शिवा बीहड़ वन में घूम रहा था। उसकी आँखें सिंहनी की खोज में लगी थीं। बिजली की चमक में ही शिवा को थोड़ा-बहुत वन का मार्ग दिखाई पड़ जाता था। उसी प्रकाश में वह सिंहनी को देखने का प्रयत्न कर रहा था।

शिवा को वन में घूमते हुए दो-तीन घंटे हो गये परन्तु कहीं सिंहनी दिखाई न पड़ी। वे बड़े चिन्तित हुए और सोचने लगे—"क्या गुरु जी की उदर-पीड़ा को शान्त करने की साधना में मैं सफल न हो सकूँगा? क्या गुरुदेव के सम्मुख मेरी जिह्वा के शब्द कोरे अनर्गल प्रलाप मात्र ही रहेंगे? हे भवानी! मेरी रक्षा करो। मेरी साधना सफल करो।"

शिवा एक वृक्ष के नीचे खड़े-खड़े यह सोच ही रहे थे कि यकायक बिजली की चमक में उन्हें एक सिंहनी पास वाले एक वृक्ष के नीचे खड़ी हुई दृष्टिगोचर हुई। शिवा के दाहिने हाथ में तलवार थी और बाँये में ढाल। साहसी शिवा दौड़कर सिंहनी के पास गये और बोले—"ओ स्वतंत्र विचरण करनेवाली वन की रानी! मैं तुम्हारा दूध दुहना चाहता हूँ। तुम्हारा दूध मेरे गुरुदेव के लिए औषधि है। उनकी उदर-पीड़ा का विनाश तुम्हारे दूध से ही होगा।"

बिजली की चमक में सिंहनी ने नवयुवक की आँखों की ओर देखा शिवा भी साहस के साथ सिंहनी की आँखों से आँखें मिलाते हुए दृढ़तापूर्वक खड़े रहे। वीर शिवा की चमकती तलवार और संघर्ष की दृढ़ता को देखकर सिंहनी कपिला गाय-सी बनकर बैठ गई। जब शिवा ने देखा कि बैठी हुई दशा में दूध निकालना कठिन-सा है, तो उसने पहले गर्दन पकड़ के सिंहनी को उठाने का

[इ]शारा किया। सिंहनी उठी। फिर शिवा अपनी पगड़ी में से पीतल [क]ा छोटा-सा पात्र निकालकर उसमें दूध दुहने लगे।

दूध लेकर गुरु-भक्त शिवा माता भवानी की जय बोलते हुए [आ]श्रम में आये और गुरु रामदास जी के चरणों में प्रणाम करके [दु]ग्ध-पात्र उनके सामने रख दिया। शिष्य की कर्तव्य दृढ़ता की [प्र]सन्नता में समर्थ गुरु रामदास कुछ क्षणों के लिए उदर-पीड़ा को [भ]ूल गये। वे एक दम उठे और शिवा को हृदय से लगा लिया। [गु]रु रामदास हर्षातिरेक में फूले न समाये। वे शिष्य की साधना-[स]फलता पर प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देते हुए कहने लगे—"परम प्रिय [शि]ष्य शिवा! तेरा कल्याण हो। दुर्गा भवानी सदा तेरी आकांक्षाओं [क]ो पूर्ण करें। तू जल्दी ही भारत में श्रीमन्त महाराज शिवाजी के [न]ाम से विख्यात हो! जननी जन्म भूमि के लिए ही सदा तेरा [ज]ीवन-पुष्प खिलता रहे।"

शिवा के अन्य साथी उसकी गुरु-भक्ति, साहस और [क]र्तव्यपरायणता का गुण गान करते हुए धन्यवाद देने लगे। [त]ब सारा आश्रम "धन्य धन्य के स्वर से गूँज उठा।

प्रश्नमाला

(१) शिवा जी के गुरु कौन थे ?

(२) उदर-पीड़ा की क्या औषधि थी और उसे लाने के लिए कौन कटिबद्ध हुआ ?

(३) किन कठिनाइयों का सामना करते हुए शिवाजी ने सिंहनी का दूध प्राप्त किया ?

(४) इस पाठ को पढ़कर तुम्हारे हृदय में किस प्रकार की भावनाएँ जाग्रत होती है ?

सैनिक ! उस समय उस देवी को अपने देव शिवाजी के वामांग में देखने का लोभ में संवरण न कर सका। निदान कल्याण की विजय के उपरान्त उसे मैं यहाँ शिविर में ले आया हूँ।

"ठीक है सेनापते ! महाराज श्रीमंत का भी अब इधर आने का समय हो चला है। वे कुछ ही मिनटों में आने वाले होंगे। मेरा यह विश्वास है कि महाराज गौहरबानू को देखकर बड़े प्रसन्न होंगे और हम सबके प्रस्ताव पर उसके साथ विवाह करने की अपनी अनुमति हर्षपूर्वक देदेंगे।"

"गौहरबानू के रूप-लावण्य में अनोखा आकर्षण है, सैनिक तुम्हारी तरह मेरा भी दृढ़ विश्वास है कि महाराज शिवाजी अवश्य ही गौहरबानू को अपनी पत्नी बनालेंगे।

कल्याण से लगभग तीन, चार कोस की दूरी पर ही एक पर्वतीय प्रान्त में मराठों के शिविर थे। उनमें एक महिला शिविर भी था जिसमें काशीबाई, सोना, गंगा और प्रभा के साथ गौहरबानू भी रहती थी। काशीबाई आबाजी सोनदेव की बहिन थी और सोना तथा गंगा उसकी सेविकाएँ। काशीबाई ने गौहरबानू को प्रायः मुँह ढाँके हुए देखकर एक दिन कहा था—"गौहर! तुम्हें बिना संकोच के मुँह खोलकर रहना चाहिए। महाराष्ट्र की नारियाँ कभी घूँघट नहीं काढ़तीं। महाराज श्रीमंत तुम्हें घूँघट में देखगे तो बुरा मानेंगे।" काशीबाई ने अधिक आग्रह करके गौहरबानू का घूँघट हटवा दिया था। वह संकोच रहित होकर उस दिन पुरुष शिविर में भी काशीबाई के साथ चली गई। वहाँ विजयोत्सव मनाने का आयोजन होरहा था। थोड़ी देर बाद ही वहाँ शिवाजी भी आगये और अचानक उनकी दृष्टि गौहरबानू पर पड़ी। महाराज शिवाजी ने गौहर के मुख-चन्द्र पर चिन्ता की काली रेखाएँ देखीं। सेनापति सोनदेव से सारी बातें ज्ञात करते हुए महाराज शिवाजी बोले——"गौहर तुम अपने को पहली जैसी परिस्थिति में ही समझो। तुम निष्कलंक चन्द्रमा हो उस

निष्कलंक चन्द्र में चिन्ता के काले धब्बों के लिए तो कहीं कोई स्थान ही नहीं। तुम अपने को उसी सुखमय स्वच्छ आकाश में स... मो अन्तर केवल इतना हो गया है कि तब तुम उसके एक कोने में थीं और अब दूसरे में।"

गौहर नीची निगाह किये चुप बैठी रही और पैर के नाखूनों से धरती कुरेदती रही शिवाजी उसे चिन्तित-सी देखकर फिर कहने लगे——"गौहर तुम्हारी सुन्दरता दक्षिणी भारत के सभी सूबेदारों के लिए एक कहानी बन रही है। सरदारों की आँखों में तुम रूप रंग छवि और आकर्षण की सीमा हो। तुम्हारा यौवन उनके लिए चाहे मादक मधु हो परन्तु गौहर तुम मेरे लिए देवी हो। तुम्हारा रूप मेरे लिए अमृत है। मैं तुमसे अमरता चाहता हूँ।" और इस सौन्दर्य की पूजा करना चाहता हूँ।"

"श्रीमंत शिवाजी आप सुन्दरता की पूजा करना चाहते हैं। लेकिन इस पूजा का नतीजा मेरे लिए क्या होगा इसे मैं अच्छी तरह समझती हूँ। आँखों की चकाचौंध में पैदा होने वाली पूजा की चाह मेरे लिए क्या असर लायेगी इसे मेरा दिल खूब जानता है।"

गौहरबानू के इन शब्दों के उत्तर में शिवाजी ने कहा——"गौहर देवि गौहर ! मेरी आँखें इतनी कमजोर नहीं हैं कि रूप के चकाचौंध में अपने मार्ग से विचलित हो जायँ। वे रूप पर मुग्ध तो होती हैं परन्तु भोगपूर्ण भावना से नहीं श्रद्धामयी पूजा से। मेरी आंखें अपना रास्ता पहिचानती हैं। मेरी आँखों की पुतलियाँ इस समय तुम्हारी सुन्दरता में जननी जीजाबाई का मुँह देख रही हैं। तुम्हारे स्वर में माता जीजाबाई का मंगलमय आशीर्वाद सुन रहा हूँ गौहर ! मैं वासना का त्यागी और अनुराग का उपासी हूँ।"

"श्रीमंत शिवाजी ! मैं अपने शब्दों को वापिस लेती हूँ। मुझे माफ करो श्रीमंत मुझे माफ करो।" गौहरबानू ने कहा।

हाड़ी रानी और सरदार चूड़ावत

सन्ध्या का समय है। उदयपुर में झिलमिल झिलमिल दीपावलियाँ हँसरही हैं और आनन्द के उल्लास में नगर की रमणीय शोभा में चार चाँद लगारही हैं। उदयपुर के वैभव-विलास में वीरों का उल्लास और अदम्य उत्साह भी पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर हो रहा है। राज-प्रासाद एवं राज-दर्बार की शोभामयी कमनीय कला को देखकर नेत्र खुले के खुले रहजाते हैं।

आज महाराणा राजसिंह का दर्बार अद्भुत सौन्दर्य प्रदर्शित कर रहा है। दर्बार की सजावट राजपूती शान की प्रतीक बनरही है। दीवारों के दृश्यों को देखकर दर्शकों के मन-मानसों में शृंगार और वीर रस की तरंगें साथ-साथ उठती हैं। सामने की महरावों पर रेशमी पर्दे लटक रहे हैं और उनके ऊपर मोतियों की लड़ियाँ झूलरही हैं। भूमि पर मखमल का फर्श बिछा हुआ है। पार्श्ववर्ती दीवारों पर ढाल, तलवार, तीर और धनुष टँगे हुए हैं। राज-दर्बार के बीच में केन्द्रीय स्थल पर एक विशाल मंच है जोकि जरीदार मखमली लाल गद्दी से अपने आकर्षण को दूना कर रहा है। उसी मंच पर बैठे हुए महाराणा राजसिंह अपने सरदारों और सेनापतियों से वार्तालाप कर रहे हैं।

"सरदारो! हमारे राज्य के ठिकाने में से कन्या कमलाबाई का अपहरण कैसे हुआ?" महाराणा राजसिंह ने आश्चर्य एवं दुःख की मुद्रा में पूछा।

'महाराणा! औरंगजेब के सिपाहियों ने चुपके-से आकर नगर-निवासियों को बुरी तरह से मारा, उनका-धन-माल लूटा और बाद में जागीरदार की पुत्री कमलाबाई को बलपूर्वक अपहरण करके लेगये।" एक सरदार ने महाराणा से कहा।

सरदार चूड़ावत बीड़ा उठा रहे हैं

यह सुनकर महाराणा राजसिंह के मुखचन्द्र पर चिन्ता की
ी रेखाएँ स्पष्ट दिखलाई देने लगीं। उनके स्वर में वेदना परन्तु
ी में उत्तेजना थी। उन्होंने सैनिक तथा सरदारों को सम्बोधन
रते हुए कहा—"मेरे सिंहो! बड़े दुःख का विषय है कि
तंत्रता प्रेमी वीरशिरोमणि महाराणा प्रताप की जन्म-भूमि में एक
न्या का अपहरण होगया और राजपूत ठंडे दिलों से इस
र्मांचकारी घटना को सुनते रहे। क्या हम अपने को :प्रणवीर
ताप का वंशज कह सकते हैं ? उदयपुर राज्य के अन्तर्गत
ोनेवाली इस घटना का समाचार जब स्वर्गीय प्रताप की आत्मा
ो विदित होगा तो वह हमारे लिए क्या कहेगी ? अब हमारे
लिए हमारा जीवन निर्लज्जता, घृणा और मृत्यु बन गया है।"

महाराणा राजसिंह के इन शब्दों में एक ऐसी चिनगारी थी
जिससे सब समुपस्थित सरदारों और सैनिकों के हृदयों में
प्रतिहिंसा की प्रचण्ड अग्नि दहकने लगी। कुछ ही क्षण व्यतीत
हुए होंगे कि सरदार चूड़ावत सिंह खड़े होकर कहने लगे—"श्रीमन्त
नरेशवर! आज मैं जननी जन्मभूमि की शपथ लेकर प्रतिज्ञा करता
हूँ कि चन्द्रिन कमलाबाई को अवश्य छुड़ाकर लाऊँगा। उसके
सतीत्व की रक्षा का भार मैं अपने कंधों पर लेता हूँ। आप कृपया
शीघ्र आदेश करें। मैं सेना सहित आक्रमण करके आततायी
औरंगजेब का दर्प-दलन करना चाहता हूँ। एक कन्या का
अपहरण करने वाले सिपाही के बादशाह को कैसा भीषण और
प्राणघातक दृश्य देखना पड़ता है' उसीका पूरा अनुभव मैं
बादशाह औरंगजेब को कराना चाहता हूँ।"

"मैं तुम्हारे वीरोल्लास की अभिनन्दना करता हूँ चूड़ावत!
तुम अभी रुक जाओ। फिर कभी समय आने पर देखा जायगा।
इस समय किसी बड़े सरदार को जाने दो। तुम्हारी अवस्था इस
समय केवल अठारह ही वर्ष की है। अभी बहुत-से अवसर मातृ-
भूमि की सेवा के लिए तुम्हें प्राप्त होंगे।"

"आयु की कोई जटिल समस्या नहीं नरवरेश। पंद्रह वर्ष के बालक अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदन किया था। षोडश वर्षीय राम ने अत्याचारी रावण से घोर घमासान युद्ध किया था और उसे तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से क्षण मात्र में ही काल के गाल में पहुँचा दिया था। मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ राणा जी!"

सरदार चूड़ावत के अपूर्व उत्साह को देखकर राजसिंह मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—"अच्छा, चूड़ावत! यदि तुम कमला को छुड़ा कर लाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो, तो मेरे हाथ से यह बीड़ा खाओ।"

सरदार चूड़ावत हर्षपूर्वक आगे बढ़े और राजा के हाथ से दिया हुआ बीड़ा खाने लगे। तब सब सरदारों ने एक स्वर में कहा—"वीरसरदार चूड़ावत की जय।"

प्रातः काल हो गया है। उदयपुर की गली-गली में नर-नारियों की भारी भीड़ लगी हुई है। सूर्य का प्रकाश ज्यों बढ़ता जा रहा है, राजमार्ग पर भीड़ के कारण तिल भर भी जगह खाली दिखाई नहीं देती। श्वेत, शुभ्र एवं विशाल महलों की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं पर सुन्दरी सुहागिनियाँ और कोमलांगिनी कन्याएँ अपने अंचलों में रंग विरंगे फूल लिये हुए बैठी हैं; किशोर, कुमार, युवक और प्रौढ़ सभी की पगड़ियों पर देशानुराग की कलंगी लगी हुई है। रण-भेरी बज रही है। घंटों की आवाज़, शंखों की ध्वनि, नगाड़ों की [illegible] धधकार और शस्त्रों की झनझनाहट से दसों [illegible] आज एक कन्या [illegible] की रक्षा के [illegible] नई शान से फ[illegible] वन्दी, [illegible] १५ व[illegible] वख[illegible] बीच-बीच [illegible]

इसी [illegible]
दिये। फूल-[illegible]
[illegible] के [illegible]

ऐक्य स्वर में निकल रहा है—"चूड़ावत की जय; कमलावाई की जय।" इसी 'जय-घोष' को लोग अनेक बार बोलते हुए सरदार चूड़ावत पर फूल बरसाते जाते हैं। सरदार चूड़ावत ने सारे नगर की परिक्रमा देडाली। प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक ने फूल बरसाकर उनका स्वागत किया। नगर-फेरी के उपरान्त वीरवर चूड़ावत अपने महल में आये।

माता-पिता आदि गुरुजनों से रणयात्रा के लिए विदाई लेने के उपरान्त सरदार अपनी प्यारी रानी के महलों में गया। उसने देखा कि हाड़ा वंश की सुलक्षणा और सुशीला राजकौर के कर का कंकण भी अभी नहीं खुला है। हल्दी लगने के कारण उत्पन्न हुई हाथों की पीलाई अभी ज्यों की त्यों है क्योंकि ब्याह हुए केवल चार ही दिन बीते हैं। सुहाग के सिंदूर की अभी पुनरावृत्ति भी नहीं हुई। नूपुर और पायलों की झंकार अंतःपुर के एक कोने में ही समायी हुई है। लज्जा के कारण अभी तक चन्द्रमा घूँघट के घन-पटल में ही छिपा हुआ है। अधरों पर आकर फिर लौट जाने वाले लाज के बोल भी अभी नहीं छुटे हैं।

सरदार चूड़ावत हाड़ी रानी राजकौर के महल में घुसे ही थे कि एक दम सामने पुष्पमाल लिये हुए प्राणेश्वरी दृष्टि गोचर हुई। सरदार की आँखों से एक क्षण के लिए हाड़ी रानी की आँखें मिलीं और फिर तुरन्त नीचे की ओर झुक गईं। उस समय सरदार अपनी आँखों के आगे अपूर्व छवि देखने लगे। उनकी आँखें देखने लगीं एक सुकुमार कोमल शरीर, यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति से परिपूर्ण। आँखों में भोलापन, सरलता और आकर्षण, माथे पर लाल बिन्दी और केशों में सफेद फूलों का शृंगार। ओठों पर मन्द-मुसकान और आँखों की पुतलियों में स्वागत की सरस भावना।

पत्नी ने प्रेम से पति का स्वागत किया और गले में . . डालते हुए कहा—"हृदयेश्वर! मुझे आज महान्

पति एक कन्या के सतीत्व की रक्षा में रण-यात्रा करेंगे। अनेक मंगल-कामनाओं के साथ यह माला मैं आपके गले में डालती हूँ।"

सरदार ने हाड़ी रानी से कहा—"मैं रणयात्रा की विदाई माँगने के लिए ही तुम्हारे पास आया था रानी! परन्तु अब तुम्हारे मुख चन्द्र को देखकर मेरा मन-चकोर पल-पल पर आपे से बाहर होता जारहा है। तुम्हारी मनमोहनी मूर्ति मुझे रणयात्रा से रोकती है। तुम्हें नववधू से वियोगिनी के रूप में बदलना मेरे लिए असम्भव-सा हो रहा है।"

रानी ने मन्द स्वर में हिम्मत के साथ कहा——"रण-यात्रा के समय आपकी ऐसी बातें मुझे दुःखी बनाती हैं। आप क्षत्रिय हैं। कर्मशील और पराक्रमी पुरुप को शिथिलता नहीं सुहाती। आप कर्मवीर क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय रण के लिए रंग को भंग कर देते हैं। वे प्राणों की आहुति देकर भी अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। आप लक्ष्मण और अभिमन्यु की भाँति कर्तव्य-परायणता में संलग्न रहें। मैं उर्मिला और उत्तरा की भाँति ही अपने जीवन को भाग्य-शाली बनाऊँगी। मेरी एक बहिन की सतीत्व-रक्षा में ही मेरे जीवन का परम सुख छिपा हुआ है प्राणनाथ!"

प्रेमविह्वल होकर चूड़ावत जी ने पत्नी को गले लगाया। और फिर विदा लेकर चल दिये। सरदार रानी के महल से लौट रहे थे और देख रहे थे कि रानी प्यासी आँखों से उनकी ओर टकटकी लगाकर निहार रही है। तब सरदार के मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठ रहे थे और रानी के भावी जीवन की चिन्ता से उनका दिल दहल रहा था।

आखिरकार सरदार चूड़ावतजी घोड़े पर सवार होकर रण-यात्रा के लिए चल दिये। सेना के आगे सरदार चले जारहे थे। शरीर घोड़े पर था परन्तु मन रानी के पास।

सरदार के मन की गति को समझते हुए रानी भी विचार करने

णी—"मेरे पतिदेव का मन यदि मुझ में लगा रहेगा तो रण यात्रा किसी प्रकार भी सफल न होगी। वे विजय-श्री से विमुख ही होंगे। उन्हें मेरे सतीत्व पर कलंक लग जाने की भी आशंका है। यह आशंका निश्चय ही मेरी बहिन के सतीत्व की रक्षा में बाधक सिद्ध होगी।"

रानी इन्हीं विचारों में डूबती और उतराती थी कि सरदार चूड़ावतजी का एक सेवक आया और विनम्रतापूर्वक कहने लगा—"रानी जी! सरदार चूड़ावत जी आपसे दृढ़ आशा और आत्म-विश्वास का कोई चिह्न चाहते हैं। उनके सन्तोष के लिए आप कोई प्रिय वस्तु दें।"

रानी "अच्छा, कहती हुई एक दम अन्दर गयी और तलवार ले आई। सेवक समझ रहा था कि रानी चूड़ावत के लिए तलवार को ही चिह्न रूप में देगी। परन्तु रानी ने कहा—"सेवक! तुम स्वामी के लिए मेरा सिर ले जाओ।"

इतना कहते हुए रानी ने तुरन्त दाहिने हाथ से तलवार चला-कर अपना सिर काट दिया। क्षणमात्र में ही सेवक ने देखा कि लच्छेदार केशों वाला मुन्ड-रुन्ड के बाँये हाथ में था और चमकती तलवार दाहिने हाथ में। कुछ क्षणों के उपरान्त रानी का रुण्ड रक्त से लथ-पथ होकर धरती पर गिर पड़ा। सेवक रानी के सिर को लेकर चल दिया और उसे भय एवं आश्चर्य की मुद्रा में चूड़ावतजी को दे दिया। उन्होंने रानी के त्याग और साहस की प्रशंसा करते हुए मुन्ड को माला की तरह गले में लटका लिया।

रणयात्रा के लिए धौंसा बजने लगा। सैनिक चूड़ावत जी की जय के साथ-साथ 'हाड़ी रानी की जय' बोलते हुए युद्ध के लिए चल दिये। तब राजवीर और चूड़ावत दोनों के ही मुखों पर कर्तव्य-परायणता सुशोभित थी। रानी का मुण्ड परोपकार [illegible] अपूर्व आभा के साथ सरदार के गले में लटकता हुआ

नन्द में हँस रहा था। और सरदार रुद्रदेव की भाँति मुन्ड-माला पहने हुए रण-यात्रा कर रहे थे।

प्रश्न-माला

(१) कमलाबाई कौन थी ? उसका अपहरण किसने किया था ?

(२) चूड़ावत कौन था ? उसने महाराणा राजसिंह के सामने क्या प्रतिज्ञा की थी ?

(३) लेखक ने सरदार चूड़ावत की नवविवाहिता हाड़ी रानी का जो चित्र अंकित किया है, उसे अपनी भाषा में बतलाइये ।

(४) हाड़ी रानी के मुख-चन्द्र को देखकर चूड़ावत की क्या दशा हुई ? संक्षेप में बतलाइये ।

(५) चूड़ावत के सेवक के आने पर, हाड़ी रानी ने क्या सोचकर अपना सिर धड़ से अलग कर दिया ?

त्यागमूर्ति श्री राजेन्द्रबाबू

२६ जनवरी सन् १९५० की प्रातः वेला—भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई रहेगी। यह सदा हमारे अन्तस्तल से अनिर्वचनीय आनन्द एवं अपार उल्लास की उत्तुंग तरंगें उठाती रहेगी। यही वह स्वर्णिम प्रभात था जिसके १०बजकर २५ मिनट पर भारतीय जनता के तृषित एवं प्रतीक्षारत नेत्रों ने राजधानी- दिल्ली के राजकीय भवन में अपने प्रथम राष्ट्रपति के दिव्य दर्शन किये थे।

उसी दिन इकत्तीस तोपों की गगन भेदी गड़गड़ाहट के साथ श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य [illegible] कीय [illegible] ने भारत को 'संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतंत्र [illegible] ज्य' [illegible] था, तत्पश्चात् राष्ट्रपति के महान् [illegible] भव्य मूर्ति उठी थी। वह मू [illegible]

राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद

परम्परा की प्रतिनिधि, ग्रामीण भारतीयता की सर्वोत्तम प्रतीक, भारतीय संस्कृति का पवित्र पुंजीभूतत्व तथा कोमल हृदय का वात्सल्यमय रूप है। उस दिव्य मूर्ति की सरलता एवं साधुता तो उस दिन उसकी मुख-मुद्रा तथा वेश-भूषा से व्यक्त होरही थी। खादी की सफेद टोपी, काली अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहने हुए जिन महापुरुष ने हमारे गणराज्य-श्रीगणेश-दिवस पर शपथ ग्रहण की, वे हैं देशरत्न एवं त्यागमूर्ति श्री डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद। इस आदर्श विभूति का नाम वाणी पर आते ही हमें ध्रुव, युधिष्ठिर तथा गौतम बुद्ध की जीवन-गाथाएँ स्मरण हो आती हैं। इसीलिए हमारे राष्ट्रपति का नाम 'अजातशत्रु' विशेषण के साथ सुशोभित है।

इस महा महिम महात्मा ने अपने जीवन को इतना शुद्ध, सरल तथा उच्च किस प्रकार बनाया, यह जानने की उत्कंठा स्वभावतः ही हमारे हृदय में उठ खड़ी होती है। सार्वजनिक सेवा में संलग्न रहने वाले इस कर्मठ तपस्वी का बाल्यकाल किस प्रकार के क्रिया-कलापों में व्यतीत हुआ होगा और तारुण्य को कैसे विचारों की कुदाली से शनैः शनैः सुन्दर बनाया होगा, इसका ज्ञान लेना प्रत्येक विद्यार्थी के जीवन के लिए कल्याणकारी है।

लम्बे कद, भरे हुए शरीर, गम्भीर मुद्रा और अन्तर्मुखी मुसकान वाला यह देवतास्वरूप महापुरुष बाल्यकाल से ही गम्भीर तथा अथक परिश्रमी रहा है। भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी आशा और विश्वास की उज्ज्वल किरण इसके हृदय को आलोकित करती रही है। देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने सरलता, दृढ़ता तथा कर्तव्यपरायणता का पाठ विद्यार्थी-जीवन में ही पढ़ लिया था।

हमारे राष्ट्रपति की जन्म-तिथि ३ दिसंबर सन् १८८४ ई० है। आपका जन्म उत्तरी बिहार के सारन जिले के जीरादेई ग्राम में हुआ था। आपके पिता मुंशी महादेव सहाय कायस्थ वंशोद्भव

एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई थी। नौ वर्ष की आयु में आपको अपने बड़े भाई स्वर्गीय महेन्द्र प्रसादजी के साथ छपरा-जिला-स्कूल में प्रविष्ट कराया गया था। आपने सत्रह वर्ष की अवस्था में कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में सर्व प्रथम रहकर एण्ट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। इसके उपरान्त कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालेज से इण्टर और बी० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। आप दोनों ही परीक्षाओं में सर्व प्रथम रहे। एम० ए० और एम० एल० की परीक्षाएँ भी आपने सर्व प्रथम रहकर ही उत्तीर्ण की थीं।

कलकत्ता-निवास-काल के दिवसों में राजेन्द्र प्रसाद जी का जीवन सामाजिक सेवा तथा राष्ट्रीय भावनाओं से परिपूर्ण रहता था। बंगाल के विभाजन-विरोधी तथा स्वदेशी आन्दोलनों में आप सक्रिय भाग लिया करते थे। जिस समय देश भक्त गोखले ने भारत-सेवक-समिति की सदस्यता के लिए बिहार प्रान्त के तरुण तपस्वियों को आमंत्रित किया था, उस समय सर्व प्रथम राजेन्द्र प्रसाद जी ने ही मातृ-भूमि की सेवा के लिए अपने को समर्पित किया था।

संपूर्ण परिवार के जीवन-निर्वाह का भार भी अकेले राजेन्द्र प्रसाद के ही कंधों पर था। इसलिए आपने सन् १९१० में कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत आरम्भ करदी थी। फिर सन् १९२१ में पटना में हाईकोर्ट स्थापित हो जाने के कारण वहाँ आकर वकालत का व्यवसाय करने लगे। आप अपने समय का अधिकांश समाज-सुधार में और आय का अधिकांश छात्र-कल्याण में लगाने लगे थे। विद्यार्थी-समाज-कल्याण की भावना के साथ ही साथ आपको हिन्दी-साहित्य-सेवा की ओर भी अभिरुचि निरन्तर बढ़ती रही। सन् १९१२ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष आप ही थे। सन् १९२३ में कोकोनाडा के कांग्रेस अधिवेशन के साथ होने वाले दक्षिण भारतीय हिन्दी

साहित्य सम्मेलन के सभापति आप ही निर्वाचित हुए थे। हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में आपकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि साधारण वार्तालाप में भी हिन्दी के साथ एक शब्द भी आप अंगरेज़ी, फारसी आदि किसी अन्य भाषा का प्रयुक्त नहीं करते।

सर्व प्रथम सन् १९१७ ई० में हमारे राष्ट्रपति पूज्य राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के सम्पर्क में आये थे। उस समय आपकी आयु ३३ वर्ष की थी। पूज्य बापू के संनिधान में आपने जो राष्ट्र-सेवा-व्रत लिया था, उसका पालन आप आज भी उतनी ही दृढ़ता तथा तत्परता से कर रहे हैं। आप मन, वाणी और कर्म से महात्मा जी के चरण-चिन्हों पर चलने वाले ध्रुव तपस्वी हैं। आपकी आत्मा और शरीर के रोम-रोम में पूज्य महात्मा की आत्मा निवास करती है। आपकी वाणी में महात्मा का संदेश और कर्म में गान्धीवाद की क्रियात्मक रूप-रेखा अभिव्यंजित है।

सन् १९२० ई० में जिस समय कलकत्ता-कांग्रेस के विशेष अधिवेशन ने स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लिए ब्रिटिश सरकार से असहयोग करने की घोषणा की थी, उस समय त्यागमूर्ति राजेन्द्र बाबू ने वकालत से त्याग-पत्र देकर सर्व प्रथम बिहार प्रान्त से असहयोग-आन्दोलन का झंडा उठाया था। अपनी गृहस्थी और पूरे परिवार के पालन-पोषण का प्रश्न आपके समक्ष उस समय एक भीषण समस्या के रूप में था। बैंक में आपके नाम पर केवल पन्द्रह रुपये जमा थे। परन्तु सच्चे राष्ट्र-सेवी तथा स्वतंत्रता-संग्राम के प्रमुख सेनानी देशरत्न राजेन्द्र राष्ट्र-हित के आगे अपने परिवार की परवाह कब करने वाले थे। पत्नी, पुत्र तथा परिवार का मोह त्यागकर त्यागमूर्ति तरुण वीरव्रती ने तुरन्त स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए प्रस्थान कर दिया।

सन १९२२ में गया में कांग्रेस का अधिवेशन किया गया। अधिवेशन आरम्भ होने से पूर्व ही गान्धी जी बन्दी

दिये गये थे। उस समय कांग्रेस में दो दल हो गये थे। एक दल तो संगठन-कार्य का समर्थक था जिसके पक्ष में राजेन्द्रप्रसादजी भी थे और दूसरा दल कौंसिलों में जाने का समर्थन करता था। अन्त में राजेन्द्रबाबू के प्रयत्न से कांग्रेस ने संगठन-कार्यों की योजना को ही स्वीकार किया।

इस मौन साधक की साधना की ख्याति जनता में विहार भूकम्प और बम्बई कांग्रेस अधिवेशन के उपरान्त ही हुई है। कांग्रेस ने बम्बई अधिवेशन में इस कर्मशील तपस्वी को अपना सभापति निर्वाचित करके इसकी सच्ची साधना का श्रद्धापूर्ण सम्मान किया था।

राजेन्द्रबाबू को सेवा का महान् अवसर १८ जनवरी सन् १९३४ को मिला था। उस समय भूकम्प ने विहार में प्रलय का विनाशकारी दृश्य उपस्थित कर दिया था। सैकड़ों घर नष्ट हो गये थे। हजारों की जानें चली गई थीं। ऐसी भीषण परिस्थिति तथा दुर्दिन के समय में राजेन्द्रबाबू ने प्रान्त की जो सेवाएँ कीं वे स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं।

भूकम्प की तिथि १५ जनवरी सन् १९३४ थी। उस दिन आप कारागृह की कोठरी में रुग्णावस्था में पड़े हुए थे। भीषण रोग ने आपकी दशा को शोचनीय बना दिया था। इसलिए डाक्टरों के आदेशानुसार सरकार ने आपको १७ जनवरी, सन् १९३४ को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया था। बन्दीगृह से बाहर आते ही राजेन्द्रबाबू को विहार-भूकम्प की भीषणता का समाचार मिला। उस समय आप चल-फिर भी न सकते थे परन्तु तो भी तुरन्त सहायता-कार्य में जुट गये। भूकम्प-पीड़ितों के लिए 'विहार-केन्द्रीय-सहायक-समिति' की स्थापना की गई और राजेन्द्रबाबू उसके सभापति बनाये गये। सारे देश के नाम सहायता के लिए अपील निकाली गई। उस समय राजेन्द्रबाबू की रोगशय्या ही सहायक समिति का कार्यालय बन गई थी। आपकी चारपाई के चारों ओर सहायक कार्यकर्ताओं

का आना-जाना लगा रहता था और आप चारपाई पर पड़े-पड़े ही सारा कार्य करते रहते थे। कुछ ही दिनों में २८ लाख रुपया एकत्र हो गया। इससे राजेन्द्रबाबू के प्रति भारतवासियों की विश्वास-भवना का पता लगता है।

सन् १९३५ में देश में एक नया शासन-विधान सरकार की ओर से प्रचलित किया गया। बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने सारे देश में भ्रमण करके मंत्रिमण्डल बनाने में कांग्रेस कार्यकर्ताओं को उचित सम्मति दी। उस समय कांग्रेस की बागडोर आपके ही हाथों में थी। इसलिए आपके ही कन्धों पर पूर्ण उत्तरदायित्व था।

अगस्त सन् १९४२ में रुग्णावस्था के कारण आप बम्बई अधिवेशन में न आसके थे। तब आप कांग्रेस हाईकमान में तो थे ही। निदान अन्य नेताओं के साथ साथ आप भी बन्दी बना लिये गये। आपके गिरफ्तार होते हुए बिहार में एक आग-सी लग गई। वहाँ की जनता ने सन् ४२ में वह भीषण काण्ड करा दिया जो भारत के राष्ट्रीय इतिहास में सदैव प्रमुख एवं प्रचंड माना जाता रहेगा।

सन् ४५ में आपको भी अन्य नेताओं के साथ कारावास से मुक्त कर दिया गया। उस वर्ष के चुनाव में कांग्रेस की विजय के गर्भ में आपकी ही त्याग-तपश्चर्या काम कर रही थी।

राजेन्द्रबाबू के त्याग, चरित्र बल और कार्य करने की क्षमता दिनों दिन बढ़ती ही रही है। देश की अन्तरकालीन सरकार के खाद्य विभाग का प्रबन्ध आपके ही हाथों में सौंपा गया। अनेक विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी आपने अन्न संकट की समस्या को हल करने में आशातीत सफलता प्राप्त की है।

स्वतंत्र भारत-संविधान-सम्मेलन के कर्णधार के रूप में आपकी सेवाएँ सदैव अमर रहेंगी। स्वास्थ्य के ठीक न रहने पर भी अटूट लगन, परम कौशल और महान् धैर्य के साथ संविधान-सम्मेलन के अध्यक्ष का कार्य किया है। आपकी अध्यक्षता में बना हुआ स्वतंत्र भारत का संविधान स्वतंत्रता तथा मानवता के दृष्टि

दिये गये थे। उस समय कांग्रेस में दो दल हो गये थे। एक दल तो संगठन-कार्य का समर्थक था जिसके पक्ष में राजेन्द्रप्रसादजी भी थे और दूसरा दल कौंसिलों में जाने का समर्थन करता था। अन्त में राजेन्द्रबाबू के प्रयत्न से कांग्रेस ने संगठन-कार्यों की योजना को ही स्वीकार किया।

इस मौन साधक की साधना की ख्याति जनता में बिहार भूकम्प और बम्बई कांग्रेस अधिवेशन के उपरान्त ही हुई है। कांग्रेस ने बम्बई अधिवेशन में इस कर्मशील तपस्वी को अपना सभापति निर्वाचित करके इसकी सच्ची साधना का श्रद्धापूर्ण सम्मान किया था।

राजेन्द्रबाबू को सेवा का महान् अवसर १८ जनवरी सन् १६३४ को मिला था। उस समय भूकम्प ने बिहार में प्रलय का विनाशकारी दृश्य उपस्थित कर दिया था। सैकड़ों घर नष्ट हो गये थे। हजारों की जानें चली गई थीं। ऐसी भीषण परिस्थिति तथा दुर्दिन के समय में राजेन्द्रबाबू ने प्रान्त की जो सेवाएँ कीं वे स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं।

भूकम्प की तिथि १५ जनवरी सन् १६३४ थी। उस दिन आप कारागृह की कोठरी में रुग्णावस्था में पड़े हुए थे। भीषण रोग ने आपकी दशा को शोचनीय बना दिया था। इसलिए डाक्टरों के आदेशानुसार सरकार ने आपको १७ जनवरी, सन् १६३४ को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया था। बन्दीगृह से बाहर आते ही राजेन्द्रबाबू को बिहार-भूकम्प की भीषणता का समाचार मिला। उस समय आप चल-फिर भी न सकते थे परन्तु तो भी तुरन्त सहायता-कार्य में जुट गये। भूकम्प-पीड़ितों के लिए 'बिहार-केन्द्रीय-सहायक-समिति' की स्थापना की गई और राजेन्द्रबाबू उसके सभापति बनाये गये। सारे देश के नाम सहायता के लिए अपील निकाली गई। उस समय राजेन्द्रबाबू की रोगशय्या ही सहायक समिति का कार्यालय बन गई थी। आपकी चारपाई के चारों ओर सहायक कार्यकर्ताओं

ा आना-जाना लगा रहता था और आप चारपाई पर पड़े-पड़े ही .रा कार्य करते रहते थे। कुछ ही दिनों में २८ लाख रुपया एकत्र हो गया। इससे राजेन्द्र बाबू के प्रति भारतवासियों की विशाल-भावना का पता लगता है।

सन् १६३५ में देश में एक नया शासन-विधान सरकार की ओर से प्रचलित किया गया। बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने सारे देश में भ्रमण करके मंत्रिमन्डल बनाने में कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को उचित सम्मति दी। उस समय कांग्रेस की बागडोर आपके ही हाथों में थी। इसलिए आपके ही कन्धों पर पूर्ण उत्तरदायित्व था।

अगस्त सन् १६४२ में रुग्णावस्था के कारण आप बम्बई अधिवेशन में न जासके थे। तब आप कांग्रेस हाईकमान में तो थे ही। निदान अन्य नेताओं के साथ साथ आप भी बन्दी बना लिये गये। आपके गिरफ्तार होते हुए बिहार में एक आग-सी लग गई। वहाँ की जनता ने सन् ४२ में वह भीषण काण्ड करा दिया जो भारत के राष्ट्रीय इतिहास में सदैव प्रमुख एवं प्रचंड माना जाता रहेगा।

सन् ४५ में आपको भी अन्य नेताओं के साथ कारावास से मुक्त कर दिया गया। उस वर्ष के चुनाव में कांग्रेस की विजय के गर्भ में आपकी ही त्याग-तपश्चर्या काम कर रही थी।

राजेन्द्रबाबू के त्याग, चरित्र बल और कार्य करने की क्षमता दिनों दिन बढ़ती ही रही है। देश की अन्तरकालीन सरकार के खाद्य विभाग का प्रबन्ध आपके ही हाथों में सौंपा गया। अनेक विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी आपने अन्न संकट की समस्या को हल करने में आशातीत सफलता प्राप्त की है।

स्वतंत्र भारत-संविधान-सम्मेलन के कर्णधार के रूप में आपकी सेवाएँ सदैव अमर रहेंगी। स्वास्थ्य के ठीक न रहने पर भी अटूट लगन, परम कौशल और महान् धैर्य के साथ संविधान-सम्मेलन के अध्यक्ष का कार्य किया है। आपकी अध्यक्षता हुआ स्वतंत्र भारत का संविधान स्वतंत्रता तथा

कोण से विश्व के राजनीतिक इतिहास में अपना प्रमुख ए
पाण्डित्यपूर्ण स्थान रखता है। हमारा संविधान बड़ा पुष्ट औ
व्यापक है। इस जनतंत्रात्मक गणराज्य में राजा की कोई सत्ता नह
है। संपूर्ण प्रजा ही राजा है। अब भारत सच्चे अर्थों
एक राष्ट्र है। सारी प्रजा को समान सुखी बनाने के लिए शासन
की शक्ति को केन्द्र में ही केन्द्रित करना श्रेयस्कर था। इसीलिए
वर्तमान संविधान में राज्य की संपूर्ण शक्ति को केन्द्र में ही
केन्द्रित किया गया है। हमारे संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को समान
अधिकार हैं। धनी निर्धनी का कोई भेद-भाव नहीं है। प्रत्येक
मानव मानव है। वह राष्ट्र का एक अंग है। व्यष्टि-व्यष्टि का
सम्मिलन ही समष्टि का निर्माण करता है। इसी सिद्धान्त के
आधार पर आज के भारत का संविधान बनाया गया है।

वर्षों के त्याग और तपस्या के उपरान्त आज भारत ने अपने
महान् नेता को पूर्णरूपेण पहिचाना है। मौन साधना और
निस्स्वार्थ सेवा की महत्ता भी कभी न कभी प्रकट हो ही जाती
है। आज त्यागमूर्ति देशरत्न डाक्टर राजेन्द्रबाबू हम ३२ करोड़
भारतवासियों के राष्ट्रपति ही नहीं वरंच हृदय-सम्राट् हैं।
हमने आज अपने सच्चे देश भक्त तथा योग्य नेता का उचित सम्म
करके अपना ऋण चुकाया है। आज सारे भारत ने उन्हें अपन
राष्ट्रपति बनाकर अपना तथा राष्ट्रपिता का गौरव बढ़ाया
और भारतमाता के हृदय में अपूर्व उल्लास जगाया है।

स्वतंत्र भारत के लोकतंत्रात्मक गणराज्य का राष्टपतिपद
सुशोभित करते समय देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने जो उत्कर्षका
भाषण दिया था उसमें हमारे स्वर्गीय सुख और अपार उत्तरदायित्व
की पूर्ण व्याख्या मिलती है। २६ जनवरी सन् ५० के प्रातः राजकीय
भवन में जो उद्गार उन्होंने प्रकट किये वे भारतीय इतिहास के
पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। भारतीय संविधान की
विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए आपने कहा था।—"हमें आशा

है कि जिस नयी व्यवस्था का आज हम समारम्भ कर रहे हैं। उसके अन्तर्गत हम अपने गुरु की शिक्षाओं के अनुकूल आचरण करने का यत्न करेंगे और स्वयं अपने ढंग से संसार में शान्ति की स्थापना में सहायक होंगे।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस रूप में हम आज संपूर्ण भारत में लोकतंत्रात्मक गणराज्य देख रहे हैं वह भारतीय इतिहास में प्रथम वार स्थापित हुआ है हमारे इतिहास में यत्र-तत्र बिखरे हुए दो-चार विर्णात राज्यों का उल्लेख मिलता है जिनका विधान पृथक्-पृथक् था और जिनके राजा भी पृथक्-पृथक् थे। परन्तु हमारा वर्तमान संविधान संपूर्ण भारत को गणराज्य बनाते हुए उस पर एक साथ लागू होरहा है। अब हमने एक ऐसे संघीय गणराज्य का जन्म देखलिया है जिसके घटकों की कोई पृथक् प्रभुता नहीं और जो वास्तव में एक ही संघ और एक ही शासनसत्ता के अंग हैं। हमारे गणराज्य का उद्देश्य है कि हम न्याय स्वाधीनता समता और भ्रातृभाव का देश में प्रचार करें।

वास्तव में हमारे राष्ट्रपति के कथनानुसार अब इस गणराज्य में न कोई राजा है और न कोई प्रजा। या तो सब के सब राजा हैं या सब प्रजा हैं। इस पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ-साथ हम सबके कन्धों पर बत्तीस करोड़ निवासियों की सुख-शान्ति का पूर्ण उत्तरदायित्व भी आगया है।

राष्ट्रोत्थान में विद्यार्थी राष्ट्रसंपति हैं। राष्ट्र की सुख शान्ति के लिए आज के स्वतंत्रभारत में विद्यार्थियों को सच्चरित्र, स्वावलम्बी और अनुरागपूर्ण परिश्रमी बनना है। निर्धनता के नाश से ही सुख शान्ति प्राप्त हो सकती है। देश की निर्धनता का मूल कारण अशिक्षा तथा अज्ञानता है। विद्यार्थी देश की जनता को बहुत कुछ शिक्षित बना सकते हैं। वे अपने शारीरिक परिश्रम से देश की अन्न संकट समस्या के हल करने में भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। हमें पूर्ण आशा और विश्वास है कि स्वतंत्र भारत का प्रत्येक विद्यार्थी अपने

राष्ट्रपति के भाषण से अमर तत्व ग्रहण करता हुआ राष्ट्र सेवा की भावना से अपने कांधों पर गीत और हाथों में कुदाल लेकर सुख-शान्ति पूर्ण भारत का नव निर्माण करेगा।

प्रश्न-माला

(१) डा० राजेन्द्रप्रसाद जी का विद्यार्थी जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ ?

(२) उन्होंने कौन-कौन से सार्वजनिक कार्य किये ?

(३) महात्मा जी के संपर्क में कब आये और कॉंग्रेस में रहकर देश की क्या सेवाएँ कीं ?

(४) हमारे वर्तमान संविधान में क्या क्या विशेषताएँ हैं ?

(५) २६ जनवरी को जो राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू ने भाषण दिया, उससे विद्यार्थियों को क्या शिक्षा मिलती है ?

(६) त्यागमूर्ति राजेन्द्रबाबू की मुख मुद्रा तथा व्यक्तित्व का वर्णन कीजिए।